।। सूक्तित्रय ।।

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : सहयोग प्रकाशन
मधुसूदन शाह
१४, शिवकृपा,एस.वी.पी.रोड.
कांदिवली. ४०००६७

धिरेन महेता, ए/३०२, विट्ठल अपार्टपेन्ट,
एस.वि.पि रोड, बोरीवलि वेस्ट,
मुंबई ४०० १०३.

सूक्तिप्रस्तुति : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : प्रथम संस्करण
पवित्रा एकादशी वि.सं.२०७२

प्रति : ५००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : ~~रमा आईस,~~
१४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.

भूमिका

बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु।
ध्यानासमर्थजीवानाम् अस्माकं सर्वदा स्वतः ॥

कवि श्रीबाणभट्ट कृत 'हर्षचरित'के व्याख्याकार श्रीचूडामणिशंकरने (संकेताख्य) सूक्तिकी परिभाषा ऐसे करी है **''सुभाषितैः सूक्तिभिः शोभनं च भाषितं प्रभावर्णनं येषां तैः''** (हर्षचरित.प्र.उ.१३) अर्थात् शोभन और सत्य के वर्णन द्वारा जो भाषित हो उसे 'सूक्ति' या 'सुभाषित' कहते हैं. इसके अलावा 'अनमोल वचन' 'सुवचन' ये सूक्तिके पर्यायवाची शब्द है. कहीं सूक्तिका पर्याय 'रत्न'के रूपमें करते हैं सूक्ति बताके, जैसे कि ''पृथ्वीपर तीन रत्न हैं, जल अन्न सुभाषित. मूर्खलोग पत्थरके टुकड़ोंको 'रत्न' कहते हैं''

ऐसा भी कहा गया है **''पुराणेष्वितिहासेषु तथा रामायणादिषु वचनं सारभूतं यत् तत् 'सुभाषितम्' उच्यते.''** सूक्तिकी विशेषता ये है कि इसमें किसी सामान्य या विशेष सत्यकी सारभूत अभिव्यक्ति होती है. प्राचीन चिन्तकों कवियों ने वेद उपनिषद् पुराण महाभारत स्मृतिग्रन्थों का अन्वेषण करके अनेक सूक्तियां प्रकट की हैं.

इसके अलावा कविहृदय अनेक अन्वेषकोंकी विभिन्न विषयपर सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं. यदि हम भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे विचारें तो कर्मप्रेरक व्यवहारप्रेरक नीतिप्रेरक धर्मप्रेरक और भक्तिप्रेरक सूक्तियां प्राप्त होती हैं. इन्हें संस्कृत सुभाषित संग्रहकारोंने धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी दृष्टिसे वर्गीकृत किया है. विज्ञानकी शाखा-प्रशाखामें भी अर्वाचीन युगके आईन्स्टीन या अब्दुल कलाम जैसे वैज्ञानिकोंने प्रकट सूक्तियां की हैं.

सूक्ति तो गागरमें सागर समान होती है. जैसे कवि माघ

कहतें हैं **''क्षणे-क्षणे यन्नवताम् उपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः''**. ये बात सूक्तियोंपर अक्षरशः घटित होती दीखाई देती है. प्रकृतिके रमणीय दृश्योंका तथा लौकिकालौकिक विचारोंका कविहृदय दर्शन करता है, अनुभव करता है तथा उन्हें अपनेमें आत्मसात् कर लेता है. जब ये भाव उद्‌बुद्ध हो कर हृदयसे झलक लगते हैं तो अमूल्य रत्नवत् सूक्तिके स्वरूपको प्राप्त करतें हैं. ये केवल पोषण ही नहीं करती अपितु दिशानिर्देश देते हुवे सन्मार्गकी और प्रेरित भी करती हैं. अस्तु.

महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **''शास्त्रको अच्छी तरहसे जानके मन-वाणी और देहसे कृष्णकी सेवा करनी चाहिये''**.

यहां ऐसा प्रश्न होता है कि शास्त्रका अच्छी तरहसे अवगाहन कैसे संभव है, विशेष करके आधुनिक स्थितिमें? क्योंकि जब-तक प्रारम्भिक दशामें वेद गीता ब्रह्मसूत्र और भागवत में यदि एकवाक्यता नहीं होती है तो शास्त्रका बोध निःसंदेह नहीं हो पायेगा. प्रमाणोंकी एकवाक्यताके साथ प्रमाणसे प्रतिपाद्य प्रमेय साधन और फल में भी एकवाक्यता होनी चाहिये. स्वयं आचार्यचरणने साक्षात् श्रीकृष्णास्य होनेपर भी स्वयंपे ये बात लागू की है कि **''शतशः विचारित होनेपर भी जीवबुद्धिके कारण कदाचित् अप्रमाणित हो सकता है''** (त.दी.नि.प्र.१।३).

यदि शास्त्रका अर्थ स्वमार्गकी दृष्टिसे आचार्यत्रयी द्वारा विरचित साहित्य तक सीमित करें तो भी अधिकारीभेदके कारण वाद भाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थ सर्वजनसुलभ नहीं हैं.

यहां कुछ कठिनाईसी अनुभवमें आती है आचार्यचरणकी उपरोक्त पंक्ति पढ़के.

'शास्त्र'का मतलब होता है जो अपनी बुद्धिपे शासन करनेमें समर्थ हो. इस शास्त्रके अवगमन या समझने के लिये अधिकारभेदवशात् शास्त्रकारोंने भिन्न-भिन्न कथ्यशैली अपनायी हैं जिनके भीतर सारभूत तथ्य एक ही होता है.

यदि आचार्यचरण विरचित साहित्यका वर्गीकरण देखें तो कुछ ग्रंथ वादशैलीमें कुछ तत्त्वनिरूपणात्मक शैलीमें कुछ कर्तव्य या उपदेश शैलीमें हैं. कुछ लीलात्मक व्याख्याके रूपमें प्रकट हुए हैं. इसके अलावा सरल भाषामें नामपाठार्थ रूपवर्णनार्थ और लीलाचिन्तनार्थ भी ग्रन्थ प्रकट किये हैं. प्राकृत भाषामें भी इन्ही सारभूत तथ्योंको सूक्तिके रूपमें प्रकट किया गया है जो अपने यहां ८४-२५२ वैष्णवोंकी वार्तामें वचनामृतके रूपमें प्रकट हुई हैं.

जो रहस्य श्रीजगन्नाथजीने प्रकट किया **''एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् एको देवो देवकीपुत्रएव, मन्त्रोप्येकः तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा''** वोही तथ्य आचार्यचरणने प्रकट किया **''शास्त्रम् अवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः''** इस तथ्यको आचार्यचरणने पुनः गदाधरदासजीकी वार्तामें प्रकट किया है **''जैसे चक्रवर्ती राजाको राज तो सगरी पृथ्वीपर और राजा देस-देसके गाँव-गाँवके सोऊ 'राजा' कहावे परंतु चक्रवर्ती राजाके आज्ञाकारी ऐसे ही पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सो सर्वोपरी''.**

तथ्य एक और कथ्य भिन्न. इसी तथ्यको पुनः गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजीने इस 'सूक्तित्रय' ग्रन्थमें प्रकट किया है. जैसे पूर्वमें कहा है कि **''क्षणे-क्षणे यन्नवताम् उपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः''** ऐसे आपश्रीने आचार्यचरणके वचनोंको आत्मसात् किया है और भक्तिके उद्रेकवशात् उद्बुद् होकर ये सूक्तियां झलकी हैं.

भक्तिकी परिभाषामें जैसे **''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः**

स्नेहो भक्तिः'' कहा है उसी प्रकार यह ग्रन्थ तीन विभागमें प्रस्तुत हुआ है. १.सिद्धान्तसूक्ति = माहात्म्यज्ञान २.उत्सवसूक्ति = स्नेह/रति ३.भक्तिसूक्ति = भक्ति. सिद्धान्तसूक्तिमें मूल षोडशग्रन्थान्तर्गत सिद्धान्तमुक्तावली नवरत्न भक्तिवर्धिनी एवं जलभेद ग्रन्थोंको सूक्तिके रूपमें प्रस्तुत किया है. उत्सवसूक्तिमें, जन्माष्टमीसे रक्षाबन्धन पर्यन्त सभी उत्सवके साथ जुड़े पुष्टिभक्तिभावोंको श्लोकबद्ध या पदरूपमें प्रकट किया है. भक्तिसूक्तिमें, पुनः भक्तिभाव बुद्धि हृदय और कार्य में सदा बना रहे जिसे पुष्टिभक्तिकी यात्रा असंभावना विपरीतभावना से रहित, भगवद्गामिनी रहे ऐसे रूपमें प्रस्तुत किया है. इसके अलावा यात्रामें आते प्रतिबंधोंसे कैसे बचना उसका भी उल्लेख किया है.

इस ग्रंथके प्रथम विभाग 'सिद्धान्तसूक्ति'का प्रथम संस्करण गुजरातीमें वि.सं.२०४३, द्वितीय संस्करण वि.सं.२०४४ और तृतीय संस्करण वि.सं.२०६२में हुआ था. पूर्वप्रकाशनमें जिन-जिन महानुभावोंने अपना योगदान दिया उनको और गुजरातीमेंसे हिन्दी अनुवादकर्ता स्नेही श्रीअशोक शर्माजीका हम तहे दिलसे साधुवाद प्रकट करते हैं. मुद्रणोपयोगी समग्र उत्तरदायित्व श्रीमनीषभाई बाराईने वहन किया है, जो अविस्मरणीय है.

पवित्रा एकादशी वि.सं.२०७२

मनीषा-परेश

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

: सिद्धान्तसूक्ति :

॥ सिद्धान्तमुक्तावली ॥

१. कर्णको खुदके अकुलीन होनेकी भ्रमणा थी. इसी प्रकार यह देह 'मैं हूँ' ऐसी भ्रमणा हम सबको है.

२. मायावादी देह और जगत् को भ्रमणात्मक बंधन मानते हैं. इसलिये उसका उपाय उनके लिये ज्ञान है. सांख्यमतमें देहको वास्तविक बंधन माना है. इसलिये उनके लिये उसमेंसे छूटनेका उपाय योग-वैराग्य है. मीमांसक, जगत्को कर्मसे बना मानते हैं. बाढ़ अकाल वगैरह पूर्वके दुष्कृत्योंके कारण होते हैं ऐसा मानते हैं. इसलिये उनके लिये सत्कर्म ही उपाय है. विज्ञान मानता है कि जड़ प्रकृतिके नियमोंपर जगत् चलता है. इसलिये इन नियमोंपर जितना काबू पा सकेंगे उतना सुख हमको अधिक मिलेगा. जैसा रोग वैसी दवा. ऐसे ही जगत्का स्वरूप तुम कैसा मान रहे हो अथवा ब्रह्मका कौनसा अंग तुम्हें अधिक प्रभावित करता है उस पर साधना आधारित होती है.

३. वैज्ञानिकोंकी मनोवृत्ति कुछ ऐसी होती है जैसे अंधेरेमें ढलानवाली भूमिपर क्लचके छूट जानेके कारण लुढ़कती बस धीरे-धीरे सरक रही हो. बाहर सर्वत्र अंधेरा ही अंधेरा हो, कुछ दिखाई भी नहीं देता हो. फिरभी भी उनकी दृष्टिमें उपाय एकमात्र स्टीयरिंग् पर काबू पा लेना ही है!

४. जिस प्रकार यशोदाजीने श्रीकृष्णको बांधनेके लिये अनेक रस्सियोंका उपयोग किया और हरेक रस्सी दो अंगुली छोटी पड़ी, वैसे

ही प्रभुको पानेके हरेक नियम या मार्ग अधूरे ही हैं. यह होते हुये भी प्रभु अपनी कृपा या दया से बंध जाते हैं.

५. हम जितना जान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं उतना ही ब्रह्म नहीं है, ब्रह्मके अनन्त पहलू है जिन्हें हम न तो समझ सकते हैं और न ही उन्हें बांध सकते हैं.

६. प्रभुके अनन्त नामोंमें 'कृष्ण' नाम फलात्मक है. क्योंकि वह नाम बोल कर कुछ प्राप्त नहीं करना है, खाली बोलनेमें ही आनन्द अनुभूत होना चाहिये.

७. जिस प्रकार मनके आनन्दको अभिव्यक्त करनेके लिये हम लोग गुनगुनाते हैं और वह गीत गानेका कारण मात्र मस्ती ही होती है. ऐसा गीत फलात्मक है. ऐसे गीत गाते समय कोई 'वाह' भी कह दे तो अपनेको वह तारीफ आनन्द नहीं देती लेकिन मस्तीकी धारामें वह रुकावट डालती है. लेकिन पार्श्व गायक खाली प्रशंसाके लिये ही गाना गाता है. उसी प्रकार फलात्मक नाम कृष्ण लेनेका कारण मात्र हृदयकी मस्ती, प्रेम ही है.

८. श्रीगोविन्दस्वामी अपनी मस्तीमें प्रभुके लिये भैरवी राग गा रहे थे. तब पेड़की ओटमें खड़े अकबरने 'वाह' कह दिया और श्रीगोविन्दस्वामीका उत्साह खंडित हो गया. उन्होंने कहा ''भैरवीराग छु गयो'' और इसके बाद भैरवी उन्होंने कभी नहीं गायी.

९. सेवा स्वयं पुरुषार्थ है. हमें सेवा करके कुछ प्राप्त नहीं करना है. हम सेवा करते हैं क्योंकि हमको वह अच्छी लगती है. वह करे बगैर हम रह नहीं सकते. ''तुम सेवा किस लिये करते हो?'' ऐसा पूछनेवालेको जबाब देनेकी भी तुम्हें कोई गरज नहीं होनी चाहिये. ''हम तो सेवा केवल समय बरबाद

करनेके लिये करते हैं!", ऐसा कहनेकी हिम्मत और बेपरवाही तुम्हारे भीतर होनी चाहिये.

१०. जो शराबी अपनी मस्तीके लिये शराब पीता है वही पक्का शराबी. जो अपना गम मिटानेके लिये पीता है वह कच्चा शराबी. जो अपने मज़ेके लिये जुआ खेले वह ही सच्चा जुआरी. उसे पैसा मिलने या गवानेके साथ कुछ लेना-देना नहीं. लेकिन जो पैसा हारनेपर उठ खड़ा हो वह कच्चा जुआरी. वैसे ही सेवा करनेके लिये की जाय वही सच्ची सेवा. उसके द्वारा कोई वस्तु, मुक्ति, मनकी शांति, पुण्य प्राप्त करना नहीं है.

११. सेवाके लिये कोई समयकी मर्यादा नहीं है. सेवा सतत चलनी चाहिये. सच्चे सेवकका हरेक कार्य सेवाके लिये ही है. अनवसरमें सच्चे सेवकका सोना, जागना, कमाने जाना, खाना, पीना सभी काम अच्छी तरहसे कर पाये उसके लिये ही है. जैसे सांस लेनेकी क्रिया सहज है वैसे ही सेवा उनके लिये सहज है.

१२. हरेक व्यक्तिका सहज धर्म अलग है. किसीको एक-दूसरेकी निंदामें मज़ा आता है. किसीके लिये राजनीति सहज है. किसीके लिये सामाजिक बातोंमें रुचि सहज है. इस कारणसे जैसी जिसकी सहजवृत्ति वैसी बातें उसके मुँहमें बार-बार आ जाती हैं. लेकिन सेवकके लिये सेवा ही जीवनकी सहज रुचि होनी चाहिये.

१३. जो दिखाई दे रहा है वह 'प्रपंच' है. जैसा दीख रहा है वह 'संसार' है.

१४. पुराने ज़मानेमें क्षत्रिय विवाहके लिये अपनी तलवार भेज देता था. कारण क्षत्रियके लिये तलवार सर्वस्व थी. कन्या तलवारको

पतिका रूप मानकर विवाह भी कर लेती थी और क्षत्रिय भी तलवारसे ब्याही कन्याको अपनी करके मानता था. वैसे ही प्रभु स्वयं शिलामूर्ति बन कर अपनी सेवा स्वीकारतें हैं तो हमको उनकी सामर्थ्यमें शंका नहीं करनी चाहिये.

१५. महाप्रभुजीका सिद्धान्त ही जब मानसी सेवाका था तो उन्होंने शुरुआत क्यों शिलामूर्तिकी सेवासे अथवा धातुमूर्तिकी सेवासे अथवा चित्रसेवासे करायी? क्योंकि मनमेंसे यह भेद निकल जाये कि जागतिक वस्तु ब्रह्म नहीं है और ब्रह्म तो कोई दूसरी ही कोई दूरकी चीज है.

१६. नाटकमें अभिनेता जब अपने पात्रमें खो जाता है और अपने असली स्वरूपको भूल जाता है तब वह नाटकके आवेशमें आ जाता है. उसी प्रकार हम तो पात्र हैं, प्रभु अभिनेता हैं. लेकिन लीलाके आवेशमें और अहंताके कारण हम अपने आपका स्वतन्त्र अस्तित्व मान लेते हैं. इस आवेशके कारण ब्रह्म ही सर्व है उसकी अनुभूति नहीं होती.

१७. हमारी अहंताकी धड़कन देहमें पहचानी जाती है और ममताकी धनमें. और देहका सेवामें कितना समर्पण होता है वह अहंताके समर्पणका मापदण्ड है और धनका प्रभुके लिये कितना समर्पण होता है वह तुम्हारी ममताके समर्पणका मापदण्ड है.

१८. शंकराचार्यजीका सिद्धान्त है : ब्रह्मके परदेपर मायाका प्रोजेक्शन् है, वास्तवमें वहां कुछ भी नहीं है, खाली सफेद परदा ही है. अपना सिद्धान्त नाटकका सिद्धान्त है : नाटकमें अभिनेता सच्चा, उसका मेक-अप् सच्चा, उसका बोलना-चलना सच्चा, यह सब सच होते हुए भी सब नाटक है और करानेवाला ब्रह्म है.

१९. छोटे बच्चे घर-घरका खेल खेलते हैं तब वे जो भी पात्र बनते हैं उसे असल रूपमें निभाते हैं, वैसे ही प्रभु भले ही यह तेरी लीला है; मैं भक्तपन निभाता हूं तो आप आपकी भगवत्ता निभाओ. अपनी भक्ति सच्ची हो तो हम प्रभुको ऐसा कह सकते हैं.

२०. सेवामें हम प्रभुसे संबंधित सभी वस्तुओंको स्वरूपात्मक मानते हैं. झारीजी 'लाओ' नहीं कहते 'पधराओ' कहते हैं. श्रीठाकुरजीकी सेवामें या उनके वस्त्र पादुकाजी की सेवा सबको एक ही गिनते हैं. अर्थात् श्रीठाकुरजी और उनसे संबंधित वस्तुमें अभेद है. अनुभव भले ही जड़ जैसा होता हो लेकिन भाव चेतनका ही होता है. धीरे-धीरे भाव बढ़ता जायेगा और उसका फैलाव बढ़ता जायेगा और अंतमें जगत्की कोई भी वस्तु प्रभुके संबंध बिनाकी नहीं लगेगी और तब सिद्ध हो जाता है सर्वात्मभाव.

२१. झारीमें श्रीयमुनाजीकी भावना, गादीजीमें श्रीयशोदाजीके गोदकी भावना वगैरह शुरुमें कठिन लगेगी लेकिन धीरे-धीरे भाव सिद्ध हो जाता है. शुरुमें भाव नहीं होता, भावना करते हैं. जो कर रहे हैं वह भावना है, जो हो जाय वह भाव है. भावना नदी जैसी है, उसमें घट-बढ़ हो सकती है. भावना मनकी शांति और संजोग पर आधारित है, जबकि भाव समुद्र समान है, उसमें घट-बढ़ नहीं होती. आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि ''भावनासे भाव सिद्ध होता है.''

२२. बद्दल अनेक स्थानों पर बरसते हैं. कुछ तो सीधे सागरमें ही बरसते हैं. ऐसा जल पुष्टिजीवोंके समान है जो सीधे प्रभुको ही मिलते हैं. कुछ बद्दलोंका जल पर्वत पर पड़ता है. वहांसे झरने, छोटी-मोटी नदी द्वारा लम्बी यात्राके बाद समुद्रमें मिलता

है. यह जल मर्यादा जीवोंके समान है. जबकि कुछ जल तालाब कुंडमें बरसता है जो सूख कर नष्ट हो जाता है. यह जल प्रवाही जीवोंके समान है.

२३. ब्रह्मसंबंध मंत्रमें 'मैं दास हूं' ऐसा मात्र कहनेसे क्या दासपना आ जाता है? उसके लिये तो दासके अनुरूप व्यवहार करना पड़ता है.

२४. ब्रह्मसंबंध मंत्रमें 'दास होनेका' स्मरण क्यों कराया गया? अंशका स्मरण क्यों नहीं कराया? 'मैं अंश हूं' ऐसी अहंता तो ज्ञानी भक्त प्रवाही सबमें बराबर है. लेकिन पुष्टिमें खास विशिष्ट अंहता दास होनेकी है.

२५. ग्रीनरूम्में डायरेक्टर् कहता है कि ''तू राम बनना, तू रावण.'' ऐसे जो सूचना देते है उसको सब अनुसरते हैं. उसी प्रकार प्रभु जब एकमेंसे अनेक हुए तब कुछ जीवोंको चुना कि इनको मैं अपना दास बनाऊंगा, अपना कार्य कराऊंगा. मर्यादामार्गीय जीवोंको प्रभुने ऐसा रोल् दिया कि तू उपासक और मैं तेरा उपास्य. कर्ममार्गियोंको तू कर्मी और मैं तेरा कार्य और प्रवाही जीवोंको तू मुझे मत मानना जो मैं सहन करूंगा, तू मुझे भूल कर घूमते रहना. ऐसे सबको अलग-अलग रोल् दिया है. इन सबमें शायद प्रवाही जीव ही अपना धर्म बराबर निभाते हैं.

२६. लीलासे बाहर भागना अर्थात् मुक्त होनेकी इच्छा. मुक्तिमें भी यदि सायुज्य हो तो ही वह लीला नहीं अन्यथा सालोक्य सामीप्य सारूप्य सार्ष्टि मुक्ति यह लीलाका ही भाग है. लेकिन वह ऊपरकी लीला है, भूतलकी नहीं. महाप्रभुजीने निबंधमें कहा है कि ''मुक्त जीवोंकी भी अपनी सृष्टि है और बद्ध जीवोंकी

भी अपनी सृष्टि है.''

२७. अहंता-ममताकी निवृत्ति नहीं करनी है लेकिन अहंता-ममतात्मक संसारकी निवृत्ति करनी है. अहंता-ममता सत्य है. उनकी मददसे अर्थात् उनको सेवामें जोड़कर दासपनेको निभाना है.

अ) रस्सीमें सर्पकी भ्रांति होती है. रस्सी और सर्प दोनों सत्य हैं. यदि सर्प दुनियामें ही न होता तो उसकी भ्रांति भी कैसे होती? लेकिन रस्सीको सर्प मानना गलत है.

आ) अहंता सत्य है, उसका विषय सत्य है लेकिन देहमें अहंता रखनी गलत बात है.

इ) टिकट् गलत नहीं है, सीट् गलत नहीं है लेकिन एक यात्राके लिये ली हुई टिकट्के कारण हमेशाके लिये उस सीट्को अपनी मान लेना गलत बात है.

ई) घर सच्चा है; मैं सच्चा हूं लेकिन 'मेरा घर' मिथ्या है. देह सीट् है और अहंता-ममता जनमभरकी यात्राकी टिकट् है. देह तुम्हारी नहीं है लेकिन इस जन्मकी यात्रा करनेके लिये उसका उपयोग कर सकनेके अर्थमें तुम्हारी है.

२८. हमेशा सेवाके आवेशमें रहनेवाले जीवकी संसारमें ममता घट जाती है और इष्ट-अनिष्टका भी भान नहीं रहता. इसमें कोई चमत्कारकी बात नहीं है. जैसे कोई गुंडा क्रोधावेशमें हो तब मार-पीट करते समय उसे अपने स्त्री-पुत्रकी ममता याद नहीं रहती और इष्ट-अनिष्टका भी ध्यान नहीं रहता.

२९. सब कुछ ब्रह्म ही है. कुछ भी नया पैदा नहीं होता, कुछ भी नष्ट नहीं होता. विज्ञान भी यही कहता है कि एनर्जीका नाश नहीं होता खाली वह दूसरे स्वरूपमें परिवर्तित हो जाती है. द्रव्य कायम रहता है, खाली उसका स्वरूप, आकार बदलता

है. जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठती हैं और खत्म होती हैं लेकिन समुद्र रूपी द्रव्य तो वैसाका वैसा ही रहता है.

३०. परब्रह्म फूल है, सच्चिदानंद रूपी अक्षरब्रह्म उसकी सुगंध है. परब्रह्म सूर्य है, अक्षरब्रह्म उसका प्रकाश है. जितनी सुगंध पुष्पमें है उतनी उसके आस-पास फैले वातावरणमें नहीं होती यह तो स्वाभाविक है. उसी प्रकार आनंदकी जो मात्रा परब्रह्ममें है उसकी तुलनामें अक्षरब्रह्ममें थोड़ी कम लग सकती है.

३१. जब सब ब्रह्मात्मक लगता है तब वह ज्ञान सुगंधका है. अर्थात् सुगंध (अक्षरब्रह्म) आ रही है और पुष्पको (परब्रह्म) हम खोज रहे हैं.

३२. ब्रह्ममें जब चित्त एकाग्र होगा तब आत्माके अंदरसे ब्रह्मका प्रवाह बहार आयेगा और सम्पूर्ण जगत्में छा जायेगा. बादमें तुम्हारे अंदर संवेदनशीलता खिल जायेगी और ब्रह्मका अनुभव करनेकी तुम्हारेमें तत्परता आयेगी.

३३. जिसे भस्मक रोग (अतिभोजन) हो जाता है वह चाहे जितना खाये परन्तु वह उसके अंग नहीं लगता, वह खुद तो दुबला ही रहता है. उसी प्रकार आज-कल प्रवचन करनेका और सुननेका सबको भस्मक रोग हो गया है. दो-चार शास्त्र पढ़नेके बाद बक-बक करनेका रोग लग जाता है. बादमें प्रसिद्धि और प्रवचन में इतना समय निकल जाता है कि आगे अध्ययन करनेका मौका ही नहीं मिलता. उसी प्रकार सब जगह प्रवचन सुनते रहनेका बहुत लोगोंको रोग लग जाता है. वह सुननेसे आत्मा पुष्ट हो रही है अथवा नहीं ये सोचनेकी किसीको जरूरत नहीं है.

३४. अक्षरब्रह्मको जानकर कृष्णका आनन्द लेना यह भक्ति है. उसी प्रकार कृष्णको जानकर अक्षरब्रह्मका आनन्द लेना यह ज्ञान है.

३५. बहुतसे लोग कृष्णकी लीला सुनकर उन्हें चाहने लगते हैं यह भक्ति नहीं है. उन्हें तो केवल कृष्णकी 'हीरोगिरी'से प्रेम होता है. ऐसे तो अन्य दस हीरोकी कल्पना कोई भी लेखक कर सकता है. दूसरे कई लोग श्रीकृष्णकी स्तुति परब्रह्मके स्वरूपके तौर पर करते हैं परन्तु इनकी लीलाको मायिक अथवा उपासनार्थ कल्पित अथवा शाखा अरुन्धती न्यायसे सूक्ष्म विषयोंके प्रति ध्यान आकर्षित करनेके लिये रूपकके तौर पर देखते हैं. (ज्ञातसे अज्ञातका पता लगाना 'शाखा अरुन्धती न्याय' कहलाता है). इसमें वास्तवमें श्रीकृष्णलीलाकी अपेक्षा ही नहीं है, तुम्हारी अथवा मेरी लीला भी तो आखिरमें परब्रह्मकी ही लीला है. इसलिये केवल लीला या केवल कृष्ण नहीं लेकिन 'लीलाविशिष्ट कृष्ण'का भजन अपना सिद्धान्त है.

३६. जिसके द्वारा कुछ खोजा जाता है वह 'मार्ग' कहलाता है. भक्ति और भक्तिमार्ग दोनों अलग हैं. कर्मी और ज्ञानी भी भक्ति कर सकते हैं. आकाश खुला होते हुए भी विमान अपने निर्धारित कृत्रिम मार्ग पर उड़ता है. मार्ग अर्थात् साधककी ऐसी निष्ठा कि मैं इस मार्ग पर पुरुषोत्तमको खोजूंगा. इसलिये भक्तिमार्गीय, कर्म या ज्ञान की खट-पटमें नहीं पडेगा. जरूरत पड़ने पर कर्म करेगा लेकिन पुरुषोत्तमको दूसरे मार्ग पर नहीं खोजेगा. उसी प्रकार ज्ञानमार्गीय भक्ति करेगा लेकिन उसकी पूरी झोंक भक्ति पर नहीं होगी. वह ज्ञानमार्गसे ही ब्रह्मको खोजेगा. भक्त चाहे जितना ज्ञान प्राप्त कर ले लेकिन वह ज्ञानमार्गीय नहीं गिना जायेगा क्योंकि पुरुषोत्तमको खोजनेका मार्ग उसके लिये भक्तिमार्ग ही है. वैसे ही ज्ञानी चाहे जितनी भक्ति कर ले

लेकिन वह भक्तिमार्गीय नहीं है क्योंकि ब्रह्मको खोजनेका सहज मार्ग उसके लिये ज्ञान है.

३७. अक्षरब्रह्म और परब्रह्म दो अलग वस्तु नहीं हैं. एक ही वस्तुके दो पहलू हैं.

३८. करुणता भयंकरता बीभत्सता किसीको भी अच्छी नहीं लगती लेकिन जब इसीको कलाकी दृष्टिसे देखते हैं तो वह करुणरस भयंकररस और बीभत्सरस बन जाता है. फिर तो उसमें जितनी करुणता भयंकरता बीभत्सता अधिक उतनी ही अधिक कलात्मकता.

प्रभुने यह जगत् लीलार्थ प्रकट किया है. तो हमको उसकी हरेक वस्तुको कलाकी दृष्टिसे देखना चाहिये. एक सूअरको देख कर हममें कितनी जुगुप्सा प्रकट होती है! तब प्रभुके प्रति कहना चाहिये "बहुत अच्छा हे प्रभु! आपने इसमें जुगुप्साकी पराकाष्ठा बताई है". उसी प्रकार मोह माया से उत्पन्न होती करुणता जब अनुभवमें आती है तब इस संसारके दुःखोंको देख कर प्रभुको करुणरसके लिये धन्यवाद देना चाहिये. जिस प्रकार फिल्ममें खलनायक लोगोंके हृदयमें तिरस्कारका भाव जितना अधिक उत्पन्न करता है उतने ही उसके रोल्की अधिक प्रशंसा होती है.

३९. शंकराचार्यजीको लगा कि ब्रह्ममेंसे इतना दुःखद नाशवान् संसार, जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसलिये इस दुःखद जगत्को उत्पन्न करनेका कार्यभार मायाको थमाया.

लेकिन महप्रभुजी कहते हैं कि पूर्ण ब्रह्ममेंसे पूर्ण जगत् उत्पन्न होने पर भी पूर्ण ब्रह्म निर्विकार रहा. इसलिए सब खराब वस्तुएं भी ब्रह्मात्मक ही हैं.

यदि ऋषि दो रूप धारण कर सकते हैं, देवता अलग-अलग

स्थानों पर एक ही रूपसे अनेक भक्तोंकी भक्ति स्वीकार सकता है; शारीरक भाष्यमें स्वयं श्रीशंकराचार्य ऐसा स्वीकारते हैं कि गंगाजी आधिदैविक आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीनों रूप धारण कर सकती है. इन सबकी सामर्थ्यमें तुम्हें शंका नहीं होती तो केवल ब्रह्मके साथ तुम्हें क्या द्वेष है? ब्रह्म क्यों एक रूपसे जगत् बन कर दूसरे रूपसे विलक्षण नहीं रह सकता? जगत्को मायाका कार्य किस कारणसे मानना चाहिये?

४०. जगत्की जो वस्तु हम समझ नहीं सकते (उदाहरणार्थ नींदमें देहकी क्रिया कौन करता है, पृथ्वी ऊपर कैसे टिक रही है) उसके द्वारा ईश्वर है यह सिद्ध करना योग्य नहीं है. लेकिन जो जानते हैं, जो अनुभव कर रहें हैं उसके द्वारा ईश्वर है यह सिद्ध करना अधिक योग्य है. क्योंकि जो आज समझमें नहीं आता वह कल समझ आ जाये और ब्रह्म तब कारण रूपमें नहीं प्रतीत हो तो ब्रह्मके अस्तित्वमें भी शंका होने लगेगी.

४१. 'ब्रह्म' यह तो पदनाम है, 'श्रीकृष्ण' उसका व्यक्तिनाम है.

४२. प्रभुकी पदवी या उपाधियों में ब्रह्म परमात्मा भगवान् परमेश्वर पुरुषोत्तम इत्यादिमें अनुक्रमसे अपेक्षा बढ़ती जाती है. ब्रह्म कहनेमें कोई अपेक्षा नहीं है. परमात्मा कहनेपर किसकी तुलनामें 'परम आत्मा' ऐसा प्रश्न खड़ा होता है. और जब भगवान् कहते हैं तब अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाती है. 'भगवान्' अर्थात् जो बंधन-मोक्ष उत्पत्ति-लय को जानता हो अथवा ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य गुण जिसमें हो वह. ज्ञेय (जानने योग्य) हो तो ज्ञानका गुण प्रकट होता है. विषय हो तो वैराग्य बताया जाता है. वीर्य यश बतानेके लिये भी कोई चाहिये. श्री देखनेके

लिये भी तो आंखें चाहिये. इन सबके अलावा अपने आपमें ब्रह्म हो सकता है लेकिन भगवान् तो नहीं हो सकता. उसी प्रकार कुछ ईशितव्य हो तब ही कोई परमेश्वर हो सकता है. उसी प्रकार बहुत सारे पुरुष हों तब कोई उनकी तुलनामें पुरुषोत्तम हो सकता है.

४३. कवि माघने कौरवोंकी सभामें जब नारदजी आये उसका वर्णन इस प्रकार किया है : सबसे पहले जैसे तेजपुंज आता हो ऐसा लगा (अक्षरब्रह्म); और अधिक पास आनेपर देहकी आकृति दिखाई दी (परमात्मा); और पास आने पर कोई तेजस्वी व्यक्ति है ऐसा लगा (भगवान्); एकदम नज़दीक आने पर पता लगा कि नारदजी हैं (श्रीकृष्ण).

४४. घरके प्रति प्रेम होता है क्योंकि शरीर उसमें रहता है. शरीर प्रिय है क्योंकि उसमें आत्मा रहती है. आत्मा प्रिय है क्योंकि उसमें परमात्मा है. प्रेमका मूल स्रोत परमात्मा है. वह अंदरसे बाहर विषयोंकी ओर बहता है. वह संसारप्राप्ति करानेवाला है. लेकिन जब बाहरसे अंदर बहता है तब वह भक्ति प्राप्त करानेवाला बन जाता है. प्रेम तो वही है; लेकिन दिशा बदल जाती है.

४५. जिसे शहद एकत्र करना है उसे पुष्पपर बैठना ही पड़ेगा, जिसे खाली सुगंध प्राप्त करनी है वह फूलके आसपास रह कर भी प्राप्त कर सकता है. उसी प्रकार भक्ति करनी है तो उसे पुरुषोत्तम तक पहुंचना ही पड़ेगा, ज्ञानीका काम तो अक्षरब्रह्मसे भी चल जाता है.

४६. पृथ्वी धर्मी है, गुरुत्वाकर्षण उसका धर्म है. अग्नि धर्मी है, उष्णता उसका धर्म है. पुष्प धर्मी है, सुगंध उसका धर्म है.

वैसे ही कृष्ण धर्मी है, सत् चित् आनंद उसके धर्म हैं. 'धर्म' अर्थात् जिसके कारण धर्मीको पहचाना जाय.

४७. नींद मुक्तिका एक तात्कालिक प्रकार है. उससे अधिक मुक्ति मृत्युमें है. उससे अधिक मुक्ति प्रलयमें है. उससे अधिक मुक्ति अक्षरब्रह्ममें लीन होनेमें है और मुक्तिकी पराकाष्ठा कृष्णभक्तिमें है.

४८. श्रीकृष्ण जब बाह्यरमण करनेकी इच्छा करते हैं तब जगत् प्रकट होता है. जब आत्मरमणकी इच्छा करते हैं तब जगत्का लय होता है और अच्छे-बुरे सब जीवात्मा मुक्त हो जाते हैं.

४९. जो उष्णता सूर्यमें है वह उसकी धूपमें नहीं है. मात्रा घट जाती है. यह होते हुये भी धूपमेंसे सोलार् बॅटरीद्वारा कितनी अधिक गरमी पैदा की जा सकती है! उसी प्रकार अंतर्गोल कांचके द्वारा रुईको जलाया जा सकता है. तो धूपमें गरमी तो थी ही परन्तु पूर्ण प्रकट नहीं थी. उसी प्रकार अक्षरब्रह्ममेंसे पुरुषोत्तम प्रकट किये जा सकते हैं.

५०. प्रपंच अक्षरब्रह्मात्मक है, सत् चित् और आनन्द रूप है. लेकिन प्रपंच उसकी ऊल्टी छबि (image) है. (शीशेमें जैसे उल्टा दिखाई देता है वैसे), अर्थात् आनन्दतत्त्व अक्षरब्रह्ममें सबसे अधिक प्रकट है जबकि प्रपंचमें सबसे अधिक गुप्त है.

५१. प्रपंचका सार निकालो तो मात्र सदंश ही दिखाई देगा. जहां चिदंश ही अप्रकट है वहां आनन्दांश प्रकट होनेकी संभावना बहुत कम है.

५२. प्रारम्भमें चंद्रमा पर रॉकेट् उतरता था तब वह इतनी तेजीसे

उतरता था कि स्वयं ही नष्ट हो जाता था. लेकिन बादमें रॉकेट्को गुरुत्वाकर्षणके विरुद्ध ऊपरकी ओर खींचकर उसकी soft landing कराई गई. परिणामस्वरूप शुरुआतमें जो रॉकेट् कुछ भी सूचना दिये बगैर खत्म हो जाता था उसके बजाय बादमें रॉकेट् स्वयं खत्म हुये बगैर चन्द्रकी सूचनाएं देने लगा.

उसी प्रकार ज्ञानी लोग 'सोहम्' करते-करते अक्षरब्रह्ममें इतनी तेजीसे दौड़ जाते हैं कि स्वयं उसमें लीन हो जाते हैं, वहांका कोई समाचार नहीं दे सकते. लेकिन भक्त 'मैं ब्रह्मका हूं' यह रटन लगाते हुये अक्षरब्रह्ममें (soft landing) करता है. परिणामस्वरूप अपना व्यक्तित्व अलग बनाये रखता है और पुरुषोत्तमके समाचार भी प्राप्त कर सकता है.

समुद्रमें बिंदु पड़ता है तो समुद्र उसको अलग थोड़े ही रखता है! लेकिन भक्ति रूपी पॉलिथिन्की थैलीमें पॅक् करके जीव रूपी जलबिंदु ब्रह्म रूपी समुद्रमें कूद जाय तो वह एक नहीं होंगे.

५३. सुख-दुःख दोनोंको पचा सके वह आनन्दरूप कहलाता है. दुःख हो तो भी उतना ही आनन्द, सुख हो तो भी उतना ही आनन्द, तब ही जीव 'सच्चिदानंद' कहलाता है.

५४. पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है इससे बड़ा झूठ कुछ हो नहीं सकता. यह मार्ग केवल सुयोग्य अधिकारियोंके लिये है, विश्वके लिये नहीं.

५५. कार्य-कारणके संबंधकी व्याख्या करनेके लिये कुल मिलाकर चार वाद हैं:

(क) विकृतपरिणामवाद: उदाहरणार्थ जैसे दूधमेंसे दही बनता है. (सांख्य मतके अनुसार प्रकृति जगत्रूपमें विकृत हुई है).

(ख) आरम्भवाद : एक-एक हिस्सेको जोड़कर कोई मशीन बनानेमें आये (न्याय मतके अनुसार यह जगत् परमाणुओंको जोड़नेसे बना है).

(ग) विवर्तवाद : रस्सीमें सर्पका भास होना. (श्रीशंकराचार्यजीके मतके अनुसार यह जगत् ब्रह्मके ऊपर मायाद्वारा उत्पन्न हुआ सा लगता है, ब्रह्ममें स्थित है ऐसा लगता है और मायामें लीन होनेवाला है).

(घ) अविकृतपरिणामवाद : उदाहरणार्थ जिस प्रकार सोनेसे आभूषणका बनना. (महाप्रभुजीके मतानुसार ब्रह्ममेंसे जगत् उत्पन्न होता है, ब्रह्ममें ही स्थित है और ब्रह्ममें ही लीन होनेवाला है. जगत् उत्पन्न होनेसे ब्रह्ममें कोई विकृति नहीं आती).

५६. श्रुति कहती है कि "निष्प्रपंच ब्रह्ममेंसे जगत् (सप्रपंच ब्रह्म) उत्पन्न होता है और जगत् ब्रह्ममें ही स्थित रहता है." (यहाँ दूधमेंसे दही बननेका उदाहरण गलत पड़ता है, कारण दही जमनेके बाद वह दूधमें स्थित नहीं रह सकता). श्रुति आगे कहती है कि "जब जगत् अपना स्वरूप खोता है तब ब्रह्ममें ही लीन होता है." यहाँ रस्सी पर सर्पका उदाहरण गलत पड़ता है. कारण रस्सी पर सर्पका भास होता है और ज्ञान होनेके बाद सर्प रज्जुमें लीन नहीं हो जाता. कार्य-कारणका अद्वैत, जिसके अनुसार उत्पत्ति-स्थिति-लय क्रियाओंका कारणसे भिन्न कार्यमें नहीं लेकिन कारणाभिन्न कार्यमें वर्णन होनेके कारण आरम्भवादको भी श्रुति झुठला देती है.

५७. जगत् और जगदीश के लिये जिनके मनमें भेद नहीं है, उनके लिये जगत्में जगदीशका प्रागट्य आसान हो जाता है. कारण भेद ही तो बाधक होता है और अभेदता ही साधक हो जाती है. कारण जगदीश जगत्के भीतर भी है और बाहर भी.

५८. कर्मांग देव, ज्ञानांग देव और उपासनांग देव अलग-अलग होते हैं. अलग-अलग शास्त्रोंमें अलग-अलग देवोंको महान बताया गया है. लेकिन उसको पढ़ कर अपनेको शंका नहीं करनी चाहिये. क्योंकि जिस देवताका जहाँ प्राधान्य होता है वहाँ ही उसका प्राधान्य माननेमें आता है.

ज्ञानकांडमें देव ज्ञेयका प्रतीकदेव है उसकी ही साधना फलदायी है. कर्मकांडमें कर्मके फलको देनेवाले देवका ही प्राधान्य है. शैव आराधनामें विष्णु गौण है और विष्णु आराधनामें शिव गौण है.

विवाह कार्यमें गणपति मुख्य और उनके पिता शिव गौण गिने जाते हैं.

५९. कर्ममें कर्मके लिये देव है, देवके लिये कर्म नहीं है. ज्ञानमार्गमें ज्ञेयके प्रतीक देवका ज्ञान प्राप्त होने पर उससे चिपकनेकी जरूरत नहीं है. लेकिन भक्तिमें देवके लिये भक्ति है, भक्तिके लिये देव नहीं.

६०. कर्मकांडी सुपारीमें गणपतिका आह्वाहन करते हैं. विसर्जनके बाद उस सुपारीका कोई महत्त्व नहीं है. लेकिन जहाँ गणपतिजीकी मूर्तिकी स्थापना है वहां भक्तिकी महत्ता है. वहाँ नित्य आह्वाहन, नित्य विसर्जन की आवश्यकता नहीं है.

६१. कर्मियोंको कर्मके फलके साथ मतलब है, कर्मके देवताके साथ नहीं. उपासना मुख्य हो वहाँ उपास्य गौण हो जाता है और उपास्य मुख्य हो वहां उपासना गौण हो जाती है.

६२. भक्तिमें हम दिव्य सामर्थ्यको नहीं पुकारते, लेकिन समर्थ देवको पुकारते हैं. जिसे बुलायेंगे वही तो आयेगा. प्रभुकी सामर्थ्यसे तुम्हारी कामनाकी पूर्ति हो जाती हो तो समर्थकी गरज नहीं

रह जाती क्या? जो ऐसा लगता हो तो पक्का समझो कि तुम्हारेमें भक्ति कदाचित् हो; लेकिन भक्तिमार्गीयता नहीं. महाभारतमें दुर्योधनको सामर्थ्यकी जरूरत थी. उसको प्रभुने सेना दी. लेकिन अर्जुनको समर्थकी जरूरत थी इस कारण प्रभुने उसे स्वयं अपना साथ दिया.

६३. बहुतसे राजा अपने प्रतीकरूप तलवारको भेजते थे और कन्या उसके साथ ब्याह जाती थी, जबकि कुछ कन्याओंसे ब्याह रचाने राजाको खुद कन्याको जबरदस्ती उठा ले जाना पड़ता था. मुसलमानोंको प्रभुके पयगम्बरसे संतोष होता था इसलिये प्रभुने उनके पास पयगम्बर भेजा लेकिन हमको तो प्रभुकी गरज है इसलिये प्रभुको खुद आना पड़ा. जैसी जिसकी गरज.

६४. हमको अनन्याश्रयकी अतिरेकताके लिये टोकनेमें आता है; लेकिन प्राय: हरेकको एकका ही आसरा है. कर्मियोंके लिये कर्माग देव कितने सारे हैं, लेकिन उन-उन कर्मोंमें उन-उन देवताओंका पूजन होता है.

६५. श्रीगोविन्दस्वामीको श्रीयमुनाजी पर अतिभक्ति होनेसे उनके जलमें और श्रीयमुनाजीमें अभेदबोध सिद्ध हो गया. परिणामस्वरूप वे कभी भी यमुनाजीमें स्नान नहीं करते थे.

६६. उपास्य या सेव्यमूर्ति में आधिभौतिकता स्वत:सिद्ध है, आध्यात्मिकता भक्तकी अभेदबुद्धिसे आती है. आधिदैविकता अति स्नेहभावसे आती है.

६७. भक्तके अतिशय स्नेहके कारण अन्य भक्तमें अथवा भगवत्स्वरूपमें प्रभुका आर्विभाव दीखता है. परिणामस्वरूप उनके हृदयमें भगवत्प्राकट्य होता है. दर्शन देनेवाले भक्तके हृदयमें यह प्रागट्य कदाचिद् न भी अनुभव हो. यहाँ मात्र भाव या कल्पना की बात

नहीं है लेकिन वास्तवमें उसके भावका पोषण करनेके लिये प्रभु उसमें प्रकट होते हैं.

६८. लैलाकी गलीके कुत्तेको भी देख कर मजनूको अति रोमांच होता था. उसी प्रकार कच्चे भगवद्भक्तको देख कर भी स्नेही पक्के भक्तमें प्रभु मिले उतना ही रोमांच होता है.

६९. तुम किसीको दोस्त समझो और वह तुमको नहीं समझे तो वह तुम्हारी मात्र कल्पना है. लेकिन तुम्हारी भावनाका प्रतिभाव जो उसमें पड़े और वह भी तुमको दोस्त माने तो यह कल्पना नहीं रह जाती. (गलीके मजनूको लड़कीसे छेड़छाड़ करनेपर उसके जूते ही मिलते हैं, कारण उनके भावका प्रतिभाव उन लड़कियोंमें नहीं पड़ता).

७०. एक चित्रकार अथवा शिल्पी चित्रपट अथवा शिला को देखता है तब उसमें वह कल्पना नहीं करता लेकिन भावसे देखता है. परिणामस्वरूप उसके भावके अनुरूप आकार प्रदान कर देता है : चित्रपटमें चित्रका और शिलामें शिल्पका. इसी प्रकार स्वरूप जब भावानुसरण करता है तब उसमें कल्पना नहीं रहती. गीतामें कहा है कि "जो मुझे जिस भावसे भजता है उसे उसी रीतिसे भजता हूँ". प्रभुको भयंकररूपसे देखना चाहते हो तो प्रभु भयंकररूपसे दर्शन देंगे; वात्सल्यसे देखे उसके लिये प्रभु बालक बन जाते हैं. जो कांतरूपसे देखे उसके लिये प्रभु कांत बन जाते हैं.

७१. सामान्यतया भाव प्रगट होना ये हृदयकी सामर्थ्यपर अवलम्बित है, लेकिन भावानुसरण करानेकी सामर्थ्य हृदयमें नहीं परन्तु प्रभुमें है. एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके भावका अनुसरण करता है, अरे जानवरमें भी प्रेमका असर हो जाता है तो प्रभु क्यों भावानुसरण न करें? मर्यादा हमारी हो सकती है, प्रभुकी नहीं.

७२. अलग-अलग व्यक्तिके भावका अनुसरण करनेकी सामर्थ्य संयुक्त परिवारके बड़े लोगोंमें अधिक होती है. कई बार यह सामर्थ्य कुछ नेताओंमें भी होती है. ऐसी सामर्थ्य सामान्य मानवमें भी होती है तो क्या प्रभुमें नहीं हो सकती?

७३. कोई मार्ग, कोई देव, कोई साधना, गलत या गौण नहीं होते. सिर्फ तुमको जो फल अभीष्ट है, वह मार्ग, वह देव, तुम्हारे लिये मुख्य; बाकी सब तुम्हारे लिये गौण बन जायेंगे. "सर्व मार्गोंका फल एक ही है" यह विधान भ्रामक है, सफेद झूठ है.

७४. फलका भेद हृदयमें होता है, वस्तुमें नहीं. अपने हृदयको जो अभीष्ट लगे उसके लिये दूसरेका समर्थन अथवा परवाह की जरूरत नहीं है. "कवि बोधा प्रीत करी है गोपालसों टेरे कहों सुनो ऊंचे गले. हमें नीकी लगी सो करी हमने तुम्हें नीकी लगी न लगो तो भले". दूसरा उसे मान्य करे तो भी क्या और न भी करे तो भी क्या?

७५. कर्मांग देवता इष्ट हो सकते हैं, अभीष्ट नहीं लेकिन भक्तिमें प्रभु अभीष्ट हैं. उदाहरणार्थ जहां विघ्नहरण इष्ट हो वहां गणपति अभीष्ट नहीं रह जाते.

७६. सच्चा भक्त दर्शनकी अपेक्षा नहीं रखता, यदि रखता है तो उसकी भक्तिमें कच्चापन है. दर्शनके बाद उसे प्रेमकामना हो तो फिर क्या शेर मारा?

७७. उछलती अनन्य भक्ति कैसी होती है?

बैठके दरपे तेरे अब किसके दरपे जायेंगे.
तेरे जब हम बन गये क्या गैरके कहलायेंगे?

७८. श्रीगोकुलनाथजीके भक्तोंने कहा "आप श्रीपुरुषोत्तम हो". आपश्रीने उत्तर दिया "मैं तो पुरुषोत्तम नहीं हूं, तुम्हारा भाव पुरुषोत्तम है". लेकिन भक्तोंका भाव ऐसा प्रबल था कि उन्होंने अपना पंथ ही अलग बना लिया.

७९. गोपियोंके भावके कारण प्रभु कांत बने? नहीं, श्रीकृष्णने वह भाव जगाया, अत: वे कांत बने. उसी प्रकार श्रीकृष्णने कंसमें भयका भाव जगाया इसलिये स्वयं भयंकर बने और श्रीयशोदामें मांका वात्सल्यभाव जगाया और स्वयं बालक बने.

८०. गीताजीमें विरुद्धधर्माश्रयका गुण निम्न वाक्योंसे स्पष्ट होता है:

क) भक्त मुझे जैसे भजता है उसी भावसे मैं उसको भजता हूं.

ख) सब मुझे अनुसरते हैं, मैं किसीको नहीं अनुसरता.

८१. हम प्रभुको मान नहीं दे रहे लेकिन प्रभु जितना मान अपनेसे लेना चाहते हैं उतना ही लेते हैं. जैसे अपने आपको जितना सजाओ उतना ही दर्पणमें दिखेगा. उसी प्रकार अपना हृदय भी दर्पण जैसा है. शृंगार तो प्रभु धारण करते हैं. हम तो सिर्फ उसको प्रतिबिंबित करते है.

८२. जिस प्रकारसे गीताजीमें प्रभुने कहा है कि "मैंने तो सैनिकोंको मार दिया है. अब तू निमित्त मात्र बन." उसी प्रकार सब कार्य करनेवाले, भाव जगानेवाले प्रभु ही हैं. जीव तो निमित्तमात्र है.

८३. भंवरेसे किसीने पूछा कि "तू इन कांटोवाली डालियों पर क्यों घूमता है?" उसने कहा "क्योंकि यहीं तो गुलाब खिलनेवाला

है. पतझड़से तो वह डरे जिसे नवीन वसंत आगमनका विश्वास न हो. जिसे विश्वास है कि देरसबेर वसंत ऋतु आनेवाली ही है फिर उसे किसका भय? मेंढक कछुए इत्यादि वर्षाऋतुके बाद मिट्टीमें घुस कर समाधि अवस्था धारण करते हैं और दूसरी वर्षाऋतु तक समय खींच लेते हैं. एक वर्ष बारिश नहीं आये तो घबराते नहीं हैं. कुछ नहीं, दो-चार वर्ष बाद भी बरसात तो जरूर आयेगी. इसी प्रकार साधक साधनापथ पर घबराये बिना धीरजसे चले. फलके विलम्बसे घबराये नहीं.

८४. एक भक्त मंदिरमें सोहनी करके भक्तोंके चरणोंकी धूल साथ ले जाता था और रोगोंके उपचारके लिये उसको दवाईके रूपमें प्रयोगमें लाता था. जो धूल आजके युगमें गंदी तथा रोगोंके जीवाणुवाली मानी जाती है वही उस भक्तके लिये दवाईके समान थी.

८५. पापकी निवृत्तिके लिये गंगास्नान नहीं, लेकिन गंगाजीका भक्त गंगास्नानके लिये पापको छोड़ेगा, वह गंगाजीमें पाप नहीं छोड़ेगा.

८६. बहुतसे लोग तापवादी होते हैं. हमेशा तापमें सुलगते रहना ही उन्हें इष्ट लगता है. आनन्दवादी तापके बाद आनन्दका मजा लेनेवाले होते हैं.

८७. जो वेदमें जो कहा है उसे स्मृति जिस रीतिसे कहती है वैसे ही समझना चाहिये, अर्थात् श्रुतिके साथ स्मृतिकी संवादिता निभानी चाहिये. उसी प्रकार स्मृतिके साथ सदाचार भी (परंपरा) संवादित होना चाहिये और सदाचार आत्माकी आवाजके साथ संवादित होना चाहिये. कोई कार्य करनेके लिये प्रमुखता किसे देनी? तो जिसमें अधिकसे अधिक संवादिता हो उसे.

८८. प्रपंच सत्त्व-रज-तम त्रिगुणात्मक है. यह आधिभौतिक पहलू है. कर्म (कोई वस्तु उत्पन्न होनेमें कर्म हेतुभूत होता है), स्वभाव (प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावमें स्थित होती है), काल (अंतमें सब कालवश होकर नष्ट होता है) यह तीनों आध्यात्मिक स्वरूप हैं. उनके नियामक देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनों आधिदैविक स्वरूप हैं.

८९. (१) वाचिक तप (स्वाध्याय आदि) ब्रह्मचारीको करना होता है.
(२) कायिक तप (यज्ञ-याग आदि) गृहस्थको करना होता है.
(३) मानसिक तप वानप्रस्थको करना होता है.

यही बातें सेवा पर भी घटायी जा सकती हैं:
(१) प्रपत्ति (२) तनु-वित्तसे सेवात्मिका भक्ति (३) मानसी सेवा, क्रमानुसार पुष्टिमार्गमें बाल्यावस्था युवावस्था और प्रौढावस्था है. प्रपत्तिमार्ग यह बालपनेका भाव है. केवल स्वाध्यायका आनन्द बालक ही ले सकता है, बड़ा नहीं. (बालक जितने रससे कहानियां पढ़ता है उतने रससे बड़ा नहीं पढ़ सकता).

९०. जब प्रभु अपनी आत्मारूप लगने लगें तब मांगनेमें भी कोई संकोच नहीं रहता, जिस प्रकार अपन् अपने दोस्तसे हक समझ कर लेते हैं.

९१. बालक मानता है कि मां मेरी है कारण उसका हरेक स्वार्थ पूरा होता है, तो बालभावमें यह भाव भूषणरूप लगता है. उसी प्रकार यह सब मेरा है यह बालभाव है. मैं सबका हूँ यह प्रौढ़भाव है. दोनों भाव अपनी-अपनी अवस्थामें सच्चे हैं.

९२. भक्तिकी पूर्वकक्षामें 'मैं तेरा' यह भाव होता है. फल कक्षामें

'तू मेरा' यह भाव प्रबल बनता है. जब 'मैं तेरा' ऐसा कहते हैं तब प्रभुका माहात्म्यज्ञान प्रबल जानना. शंकराचार्यजी जब कहते हैं कि "समुद्रकी तरंग होती हैं, तरंगका समुद्र नहीं होता" वैसे ही मैं तेरा हूँ, तू मेरा नहीं है इसमें माहात्म्यज्ञान खूब छलक रहा है. लेकिन जब प्रभुके साथ पूर्ण ममता बंध जाती है तब 'तू मेरा' यह भाव अपने आप आ जाता है. इसमें जीव अहंताको भूल जाता है. 'तू मेरा' इसमें अहं नहीं बोल रहा, मात्र प्रभुके लिये भक्तकी ममता बोल रही है.

९३. जिसे भजनीय स्वरूपका तथा अपने स्वरूपका अज्ञान है उसके लिये महाप्रभुजीने
पूजा = उत्सवमें स्थित रहनेके लिये कहा है.
पूजा = अपनेसे महानकी होती है. (अर्थात् माहात्म्यज्ञानपूर्वक दैन्य).
उत्सव = जिसके साथ मेरेपनका भाव है उसका उत्सव मनाया जाय (स्नेह).
उसी प्रकार जो मर्यादास्थित पुष्टिभक्त हैं उन्हें गंगाकिनारे बसना चाहिये (माहात्म्यज्ञान + दैन्य) और श्रीमद्भागवतमें (स्नेहके लिये) तत्पर रहना चाहिये.

९४. प्रभुताका भाव जब-तक हो तब-तक ही पूजा है और ऐसे माहात्म्यको जाननेके बाद ही सेवा प्रारम्भ होती है, सेवामें माहात्म्यज्ञानकी आवश्यकता नहीं है.

९५. गोस्वामी बालकोंकी वैष्णवोंके घर पधरावनी होती है, तब माला वगैरह धरानेमें आती है, वह 'पूजा' कहलाती है; लेकिन बालकोंके घरमें उनकी पत्नी द्वारा अथवा नौकर द्वारा सेवा होती है, पूजा नहीं. मतलब सेवा तो उसकी होती है कि जिसके साथ अपन् घरमें रहते हैं. बाकी पूजामार्गीय आवाहन-विसर्जन-पधरावनीमें

तो पूजाका ही भाव होता है.

९६. बहुत लोग कहते हैं कि कर्म तो भगवान्‌को भी भुगतना पड़ता है. इस तरह वह लोग नियम बनानेवालेके ऊपर ही नियम थोप देते हैं. वह लोग भूल जाते हैं कि जिसमें नियम बनानेकी सामर्थ्य है तो तोड़नेकी भी है.

९७. भक्तको गंगा देवीके दर्शन प्राप्त करने हों तो तीर्थरूपा गंगाके प्रति भाव द्वारा प्राप्त कर लेते हैं. लेकिन देवीके लिये कोई मर्यादा नहीं है. जिस प्रकार अफसरको मिलनेके लिये चपरासीकी हां जरूरी है लेकिन अफसरको स्वयं किसीसे मिलने बाहर आनेके लिये चपरासीकी मंजूरीकी जरूरत नहीं है.

९८. प्रश्न : भगवद्धर्मका अंगरूप अर्थात् ?
उत्तर : अपने यहां पूजा तो है ही, लेकिन सेवाके अंगतया. महाप्रभुजीने कहा है कि जब-तक स्नेहभाव न जगे तब-तक पूजा ही करनी. सेवा करने लगें उसके बाद नवधाभक्तिका स्वरूप बदलता है. यह नवधाभक्ति जो भक्तधर्म हैं, वह स्नेहके अंगरूप बन जायेगी.

९९. घरमें हो उसकी ही सेवा होती है. (गृहसुश्रुषणं मह्यं दासवद् यद् अमायया) घरमें जिस प्रकार मालिककी सेवा होती है वैसे सेवा करनी चाहिये. इसलिये पब्लिक् मंदिरोंमें अथवा ट्रस्ट् मंदिरोंमें की गई सेवा घरमें न होनेके कारण मूलमें तो सेवा होती ही नहीं और अगर है तो वह व्यामोहिका मायासे भ्रमित पुष्टि जीवों द्वारा किया गया सेवाका मिथ्या आडम्बर है.

१००. आवाहन-विसर्जनमें पूजाका भाव है. पूजा भले ही अधिक स्नेहसे

होती हो और सेवा भले थोड़े स्नेहसे होती हो, लेकिन सेवा तो सेवा है और पूजा तो पूजा. घंटा बजा कर जगाना, अनवसर करना यह सब पूजा है. लेकिन सेवामें पूजा मिल जाय तो वह सेवा हो जायगी. संसार भी सेवामें मिलनेके बाद सेवा हो जाता है.

गोस्वामी बालक जब परदेस पधारते हैं तो पूजाके श्रीठाकुरजी पधराते थे. सेवाके श्रीठाकुरजीको तो श्रम पड़ता है. इन पूजाके श्रीठाकुरजीको सेवामें श्रीठाकुरजीकी गोदमें पधरानेसे वह सेवाके बन जाते हैं.

सूचना : चार जयंतीमें पंचामृत स्नान, तंत्रशास्त्रोक्त विधिसे पूजाके श्रीठाकुरजीके होते हैं.

१०१. पूतनालीला भक्तके स्वरूपको समझानेके लिये नहीं लेकिन भजनीयके स्वरूपको समझानेके लिये है. शास्त्रोंमें सावधानी रखनी पड़ती है कि कौनसी लीला सेवकके लिये है और कौनसी लीला सेव्यस्वरूपके लिये है. ''आंतरं तु परं फलम्'' यह महाप्रभुजीका वाक्य है, लेकिन किसके लिये? जिसकी व्यसनदशा सिद्ध हो गई है उनके अनुभवगोचर भगवत्स्वरूपकी समझके लिये; अंकुरावस्था, प्रेमावस्था या आसक्ति-अवस्था वाले भक्तको कैसा भाव रखना समझनेके लिये नहीं.

१०२. तुम मार्गका अनुसरण कर रहे हो, ब्रजभक्तोंके कदमोंका नहीं. जिस प्रकार ब्रजभक्त चले वैसे अपन् नहीं चल सकते; जिस मार्गपर चले उस मार्गपर चल सकते हैं.

१०३. पुष्टिमार्ग सम्पूर्ण रीतिसे पुष्टिसम्प्रदाय नहीं हो सकता. पुष्टि (कृपा) को पुष्टिमार्गकी गरज नहीं है. सम्प्रदायके नियम मार्गपर लागू नहीं

होते . मार्गके नियम पुष्टिको लागू नहीं पड़ते. पुष्टिमें कोई नियम होता नहीं है इसलिये प्रभु स्वतन्त्र हैं.
पुष्टिसम्प्रदाय —> पुष्टिमार्ग - पुष्टिभक्ति - पुष्टि - प्रभु.

१०४. बहिर्मुखता दूर करनेका उपाय वगैरहके बारेमें सम्प्रदायकी कुछ मान्यताएं और नियम हैं. मार्ग तो दूरकी बात है, ब्रह्मसम्बन्ध लेना वगैरह सम्प्रदाय है मार्गको ब्रह्मसम्बन्धकी कोई गरज नहीं है.

१०५. मान लो भविष्यमें कोई गोस्वामी बालक ही न रहे तो क्या पुष्टिमार्ग छोड़ दोगे? महाप्रभुजी तो हैं न! जब-तक सम्प्रदाय जीवित है तब-तक परम्परा मौजूद है. परम्परा नहीं रहे तब भी मार्ग तो रहेगा. मार्ग नहीं रहे तो भी पुष्टि तो रहेगी. अगर मार्ग नहीं रहेगा तो प्रभु पुष्टि नहीं करेंगे?

१०६. पुष्टि, पुष्टिमार्ग, पुष्टिभक्ति और पुष्टिसम्प्रदाय में सूक्ष्म अंतर है. काल कर्म और स्वभाव के नियमोंका प्रभु द्वारा किया गया अपवाद वह पुष्टि. पुष्टिके कारण प्रभु पापीको भी स्वर्ग या असुरको भी मुक्ति इत्यादि देते हैं. पुष्टिमार्ग अर्थात् प्रभुकी कृपासे प्रभुको प्राप्त करनेका मार्ग. गोपिकाको कामभाव द्वारा प्रभु प्राप्त हुए यह पुष्टिमार्ग. पुष्टि (अनुग्रह) द्वारा जब हृदयमें प्रभुके प्रति भक्ति जागे तब उसे पुष्टिभक्ति कहा जाता है. पुष्टिसम्प्रदाय महाप्रभुजीने पुष्टिमार्गके आधारपर प्रवर्तित किया है. इसलिये प्रभुके प्रति कामभाव पुष्टिसम्प्रदायमें उपादेय नहीं है. अलबत्ता पुष्टिमूलक भक्ति अथवा प्रपत्ति पुष्टिसम्प्रदायमें उपादेय है.

१०७. ब्रह्म अकेला था, आत्मरमण करता था. इस अवस्थामें उसे

किसी सेवा-सेवककी जरूरत नहीं थी. श्रुति कहती है कि दूसरी आत्मा प्रकट हो ऐसी उसे इच्छा हुई. प्रयोजन? अकेले वह रमण नहीं कर सकता था. यह रमण ही सेवा है. आत्मरमणमेंसे उसने सेव्य-सेवक, कर्ता-कृति, ज्ञानी-ज्ञेय के रूपमें रमण करना प्रारम्भ किया. सेव्य-सेवकका रूप प्रभुने धारण किया. प्रयोजन? सेवा. ज्ञानी-ज्ञेयके दो रूप धारण करनेका प्रयोजन? ज्ञान. कर्ता-कर्मके दो रूप धारण करनेका प्रयोजन? कर्म. रमण किया तो कर्म ज्ञान और भक्ति रूपी रमण. रमणकी बहुत महत्ता है और वह समझे बिना सेव्य-सेवकका स्वरूप समझमें नहीं आयेगा.

१०८. सेवामें तीन प्रकारके पद गाये जाते हैं:

(१) जगानेसे पहले महाप्रभुजी श्रीगुसांईजी और श्रीयमुनाजीकी स्तुति गाई जाती है. इन पदोंको गानेका कारण सेवकपनेके भावका उद्बोधन करना है. उनके बिना भावका उद्बोधन नहीं होगा.

(२) जगानेके बाद सेवाके कीर्तन गाये जाते हैं. यह सेव्यके उद्बोधनके लिये हैं. सेवामें रमण होना चाहिये. रमणका भाव जागेगा बादमें सेव्यका उद्बोधन होगा. सेवा सुंदर रीतिसे होनी चाहिये जिससे जागनेमें प्रभुको रुचि आवे, भोग आरोगनेमें उन्हें रुचि आवे और शृंगार धरानेमें उन्हें रुचि आवे. जिस प्रकार लड़ाईके समय लड़नेवालोंमें शूरपनाका भाव संचारित हो वैसे गीत गाये जाते हैं, उसी प्रकार कीर्तनसे सेव्यमें भावका उद्दीपन होता है. अपनेमें सेवाका उत्साह महाप्रभुजी गुसांईजी और श्रीयमुनाजी की स्तुतिसे आता है. जिस प्रकार खानेके लिये भूख लगे इसलिये पहले क्षुधावर्धक रस पीते हैं उसी प्रकार भाव उद्दीप्त हो इसलिये जगानेके बाद कीर्तन (चटनीकी तरह) गाये जाते हैं. बादमें प्रभुमें सेवा लेनेका भाव उद्दीप्त हो जाये तो हम सेवा बराबर करें या न करें, सेवा ठीक ही होगी.

(३)सेवा करनेके बाद डकार न आवे इसके लिये दीनताके पद

गाये जाते हैं. खाना खानेके बाद बर्तन तो मांजने पड़ते ही हैं न! इसलिये मैंने सेवा करी है यह अहंकार नहीं रहना चाहिये. सेवा प्रभुने ली है कृपा करके महाप्रभुजी गुसांईजी की कानिसे, इसलिये दीनता-आश्रयके पदोंको भी गाना चाहिये.

१०९. सेवाका स्वरूप — सेवाका गुण

क. सदा कार्या	ऐश्वर्य
ख. मानसी परमफल	वीर्य
ग. चेतस्तत्प्रवणं	श्री
घ. तनुवित्तजा	यश
ङ. संसारदुःखनिवृत्ति	वैराग्य
च. ब्रह्मबोधन	ज्ञान

ऐसी षड्गुणवती सेवा है.

११०. (क) सदाकार्या: जो वस्तु सदा की जाती है वह हमेशा प्रमुख बन जाती है. सेवा ऐश्वर्यभावयुक्त करनी चाहिये जिससे दूसरी कोई वस्तु उसकी तुलनामें प्रमुख न बन जाये. 'सदा' अर्थात् सोते जागते खाते सब समय सेवा करनी. हरेक कार्य सेवाके आधीन होना चाहिये तो सेवामें 'ऐश्वर्य' आये.

(ख) मानसी : किसी एकको किसी दूसरेके साथ महाद्वेष हो और उस कारण उसे मारनेकी हिम्मत हो तो वह सचमुच मारेगा. लेकिन हिम्मत बगैरका मनुष्य मनमें मारेगा, मनमें गाली देगा. लौकिक कार्य जब मानसीमें हो जाते हैं तब उनका वीर्य खतम हो जाता है. लेकिन यहां ऐसा नहीं है. प्रभुकी मानसी सेवा जब प्रकट होती है तो वह सेवा प्रभु सबसे अधिक अंगीकार करते हैं. लौकिकमें बाहरका जगत् अलग है और अंदरका जगत्

भी अलग है. लेकिन प्रभुका वीर्य तो अंदर बाहर दोनों जगह ही मौजूद है. मानसी होती है तब सेवामें 'वीर्य' प्रकट होता है. बाहरकी सेवा जिस सामर्थ्यसे स्वीकार करते हैं उतनी ही सामर्थ्यसे अंदरकी सेवा भी स्वीकारते हैं. इस कारण मानसी सेवा स्वामीको सेवकके आधीन बनानेवाली होनेसे वीर्यवती है.

(ग) चेतस्तत्प्रवणं : यह 'श्री' गुण बताता है. चित्त किसमें प्रवण हो? जहां मोहकता हो, आकर्षकता हो. जब सेवामें चित्त प्रवण हो गया तब सेवामें 'श्री' गुण प्रकट होता है.

(घ) तनुवित्तजा : 'यश'का आधान करती है. जो तनुवित्तजा नहीं करते वे सेवाके यशका खंडन करते हैं. सेवा अर्थात् सेव्यके समक्ष दीन होना और आधीन होना (तन द्वारा), और उसके सुखका विचार (वित्तजा). तनुजा किसकी करते हैं? जिसके सामने दीन होते हैं जिसके आधीन होते हैं. वित्तजा किसकी करते हैं? जिसके सुखका विचार हो. जब यह गुण प्रकट होते हैं तब सेवामें 'यश' प्रकट होता है.

(ङ) संसारदुःखनिवृत्ति : यह 'वैराग्य' गुण बताता है. जब तुम सांसारिक दुःखोंको दूर करनेके लिये सेवा करते हो तब तुम्हारा अनुराग संसारमें है. सेवामें अनुराग होने पर संसारमें वैराग्य आयेगा.

(च) ब्रह्मबोधन : हम जानते हैं कि झारीजी चांदीकी है, लेकिन हम उसमें श्रीयमुनाजीका भाव स्थापित करते हैं. सिंहासनमें श्रीयशोदाजीके गोदकी भावना करते हैं. खिलौना कुछ भी नहीं है तब भी हम उसमें ब्रह्मबोध स्थापित करते हैं. हरेक वस्तुमें जड़ताकी भावना दूर करके सचेतनताकी भावना करते हैं. इस प्रकार सबमें भाव स्थापित करके उसमें चेतनता और आनन्दत्व लाते हैं. हरेक वस्तुमें भावात्मकताका अनुसंधान बना रहता है. अपन् 'झारी लाओ' ऐसे नहीं कहते लेकिन 'पधराओ' ऐसा कहते

हैं. यह ब्रह्मात्मकताका ज्ञान है. झाड़ूको 'सोहनी' बोलेंगे क्योंकि वह लक्ष्मीका स्वरूप है, जो कि सेव्यस्थलको साफ कर रही है. सोहनीको हम पैर भी नहीं लगाते हैं. ऐसी षड्गुणवती सेवा षड्गुणवान प्रभुके लायक है.

१११. कीर्तन गानेसे पहले आज्ञा ली जाती है. कीर्तनीयाजीकी गादी होती है. शृंगारीकी भी गादी होती है.

११२. संसारसुखकी प्रवृत्तिके लिये सेवा नहीं करनी. कोई कहता है कि सेवामें धरे हुए फलादि खानेसे आरोग्य बढ़ता है, दण्डवत् करनेसे कसरत होती है. इस प्रकार सेवा स्थलको बॉडी-बिल्डिंग् या बॉडी-स्लिमिंग् सॅन्टर् नहीं मानना चाहिये.

११३. ब्रह्मबोधसे विषयका बाध नहीं होता. विषय तो विषय ही रहेगा, लेकिन उसमें ब्रह्मात्मकताका बोध होगा. ब्रह्मता नहीं लानी है लेकिन ब्रह्मबोधन लाना है. सबकी सेवा नहीं करनी, सेव्यकी सेवा करनी है ब्रह्मात्मक सामग्री द्वारा, जैसे गोकुल-मथुरामें यमुनाके पूजनमें जलकी लोटी श्रीयमुनाजीके जलप्रवाहमेंसे ही भर कर श्रीयमुनाजीको भोग धरनेमें आती है. ब्रह्मता और ब्रह्मेतरता का इतरव्यावर्तन 'ब्रह्मबोधन' पद द्वारा होता है. सोना रखो तो गुनाह है लेकिन जेवर रखनेमें गुनहगारी नहीं है. सेवामें दो ब्रह्म होंगे तो कदाचित् गड़बड़ होगी. लेकिन सेवामें ब्रह्मात्मकतासे गड़बड़ नहीं होगी. सेवोपयोगी पदार्थको ब्रह्मसे भिन्न समझना या ब्रह्म समझना गलत है. कारण उससे रमणका भाव समाप्त हो जाता है. भक्तजीवके लिये सेवा सेव्य-सेवकके बीचका रमण है, आत्मरमण नहीं है. वह परमात्माके लिये ही है.

११४. (क) संसारके दु:खोंकी निवृत्तिपूर्वक कृष्णमें चित्तप्रवणता यह

आधिभौतिक है. प्रवाहपुष्टिका कार्य है.

(ख) ब्रह्मबोधनपूर्वकी चित्तप्रवणता यह आध्यात्मिक है. मर्यादापुष्टिका कार्य है.

(ग) मानसी यह आधिदैविक है और पुष्टिपुष्टिका कार्य है.

११५. मोटरगाड़ीमें जैसे बॅटरी होती है उसी प्रकार अपनेमें अंहकार अथवा बुद्धि होती है. केवल बॅटरीके आधार पर गाड़ी नहीं चल सकती. डायनेमो जैसे चित्तको सक्रिय करनेके लिये उसकी अपेक्षा है. डायनेमो बॅटरीकी मददसे चालू होता है और डायनेमो चालू होनेके बाद उसे बॅटरीकी जरूरत नहीं रहती. बुद्धिपूर्वक सेवा करनेसे चित्त सेवामें प्रवण होता है और बादमें चित्तके द्वारा अपने आप चलने लगती है.

११६. पहले बुद्धि या सेवा? जो उत्तम अधिकारी है उसे तो केवल श्रवण ही पर्याप्त है. जो उत्तम अधिकारी नहीं है उसे मनन आदि दूसरी तकलीफ उठानी पड़ेंगी. इसलिये कभी सेवाके नियम बांधे नहीं जा सकते. सिद्धान्तमुक्तावली द्वारा जो सेवाको समझ सकता है तो फिर उसे अणुभाष्य, तत्वार्थदीप निबंध पढ़नेकी आवश्यकता नहीं है. रोग कितना है, खराबी कितनी है उपचार उसके ऊपर निर्भर है. चौरासी वैष्णवोंने महाप्रभुजीकी आज्ञासे सेवा तुरन्त स्वीकार कर ली इसलिये उनको अणुभाष्य पढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ी. और जो नहीं समझे उनके साथ आपको शास्त्रार्थ भी करना पड़ा.

११७. यह तो गुरु-शिष्यकी कबड्डी है, दोनोंको एक-दूसरेको अच्छी तरहसे पकड़ना पड़ता है. महाप्रभुजीके साथ कबड्डी खेलनेवाले भी उनसे अलग हो गये थे तो आजके वैष्णवोंके लिये तो क्या कहना?

११८. प्रवाहमार्गी केवल देहकी देख-भाल करता है और आत्माकी उपेक्षा करता है. ज्ञानमार्गी देहकी उपेक्षा करता है और आत्माको सम्भालता है. भक्त आत्मा और देह दोनोंको परमात्माके लिये सम्भालता है. उसके लिये तो परमात्मा ही सर्वस्व है.

११९. प्रवाही देहोद्धारकी चिंता करता है. ज्ञानी आत्मोद्धारकी चिंता करता है. भक्तके लिये आत्मा या देह कुछ भी सर्वस्व नहीं है. परमात्मा ही सर्वस्व है. भक्त परमात्माके लिये देह आत्मा संसार जो भी कुछ काममें आता हो उसे सेवामें लगाता है. ऐसा भक्त किसीका दुश्मन नहीं होता.

१२०. सेवाका सहज आंतरभाव : जिसमें चित्त लगा हुआ रहे वह.
विहित बाह्यभाव : राग भोग और शृंगार द्वारा प्रभुके लाड लडाने.
सेव्यप्रति सहज आंतरभाव : प्रिय स्वामीके रूपमे स्वीकार और उसके साथ वैसा ही व्यवहार.
विहित बाह्यभाव : शास्त्रवर्णित नवधाभक्ति करनी.
सेवकका अपने लिए सहज आंतरभाव : मैं और मेरा सब कुछ तेरा है.
विहित बाह्यभाव : भीतर-बाहरकी शुद्धिसे सेवामें पहुंचना.
बाह्य नियमोंको इस प्रकार पालना चाहिये कि जिससे आंतरभाव खंडित न हो. आंतरभावके साथ अच्छी तरहसे रक्षण करना चाहिये. बाह्य नियमोंपर अति जोर नहीं देना चाहिये. संतुलन रखना चाहिये.

१२१. संसारी : जिसे अपने प्राप्त संसारसे संतोष है. उसे दूसरी खट-पट नहीं है, ओसतन पुष्टिमार्गी.
लोकार्थी : जो संसारमें प्राप्त हुवा है उससे असंतुष्ट है. ओसतन हम गोस्वामी बालकोंकी तरह अधिक प्राप्त करनेकी आकांक्षा रखता है.

१२२. विनियोग दो प्रकारका (१)साक्षात् (२)पारम्परिक. सेव्यको साक्षात् समर्प सके वह 'साक्षात्' विनियोग. लेकिन सेव्यकी सेवाके लिये अथवा सेवकादिके लिये अपेक्षित हो वह 'पारम्परिक' विनियोग.

१२३. द्रव्यकी शुद्धि द्वारा जितनी वस्तु शुद्ध होती है उतनी मिट्टी अथवा जल द्वारा नहीं होती. इसी कारण श्रीठाकुरजीके नामपर दूसरेसे धन ले कर एकत्रित की गई सामग्री दस बार भी पानी द्वारा धोनेके बाद भी अपरसमें नहीं आती, घोर अनाचार ही है.

१२४. महाप्रभुजी कहते हैं : ब्रह्मको किसी भी वादकी चौखटमें नहीं बांधा जा सकता लेकिन ब्रह्म चाहे तो किसी भी वादकी चौखटमें प्रविष्ट हो सकता है. श्रुतियोंके अनेक प्रकारके वचन हैं. कारण? श्रुति किसी एक वादका पक्ष लेना नहीं चाहती लेकिन ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयता और सर्वभवनसामर्थ्य का वर्णन करना चाहती है.

१२५. एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक गुणका प्रतिपादन करता है.

१२६. अक्षरब्रह्मकी प्राप्तिका मार्ग और पा लेना एक ही बात है. मर्यादामार्गविधि द्वारा जिसके द्वारा जाननेको मिलता है वह ही उसे पानेकी विधि है. वेदांत योग संन्यास द्वारा जब जीव शुद्ध सत्त्व हो जाता है तब ही वह पा लेता है.

१२७. ब्रह्मको वेद द्वारा ही जाना जा सकता है. दूसरी किसी अवैदिक रीतिसे नहीं. इस संदर्भमें महाप्रभुजी और श्रीशंकराचार्यजी एक मत हैं.

१२८. वेदमें पुष्टि प्रवाह और मर्यादा वर्णित हैं. प्रवाहियोंके लिये

किसीको मारनेकी विधि भी बताई गई हैं. पुष्टिमार्गकी विधिका वर्णन नहीं है. मर्यादाकी अनेक विधियां हैं.

१२९. श्रुति कहती है कि परमात्मा प्रवचनसे अथवा अधिक सुननेसे प्राप्त नहीं होता. लेकिन वह जिसका वरण करता है वह ही उसे प्राप्त कर सकता है.

१३०. हम अक्षरके ज्ञान या उपासना की निंदा नहीं करते लेकिन भक्तिकी स्तुतिके लिये उन्हें गौण मानते हैं. डाली (अक्षरब्रह्म) काटनी नहीं है. फूल (कृष्णभक्ति)में तन्मय हो जाओ. इस कारण डालीमें तन्मय होनेकी जरूरत नहीं है और न ही डालीको काटनेकी.

१३१. महाप्रभुजीने राधा-लक्ष्मीके स्वरूपको अक्षरब्रह्मानन्दरूप माना है. इस कारण राधा श्रीकृष्णको जो खोजती हैं वह तो स्वभाविक आकर्षण है और श्रीकृष्ण राधाको जो खोजते हैं वह लीलात्मक आकर्षण है.

१३२. सेव्यका वर्णन : सेव्य प्रभुके छह गुणधर्म और एक धर्मी.

(१) ज्ञान : अभेदबुद्धिगम्यता : अपने सेव्य प्रभुमें आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टिसे कोई भेद नहीं है.

(२) ऐश्वर्य : देशानियम्यता : उसके लिये सेवा स्वीकारनेके लिये कोई भी देशका बंधन नहीं है.

(३) वैराग्य : भक्तिसे इतरसाधनसे अगम्यता : वह भक्ति बिना नहीं मिल सकता.

(४) धर्मी : सर्वजनाग्राह्यता : प्रकट होता है लेकिन सबको नहीं दिखता. प्रकट होता है तो भी वही व्यक्ति जान सकता है कि जिसके लिये प्रकट हुआ है.

(५) वीर्य : प्रकाम्यता : आधिभौतिक रूपमें होते हुए भी

आधिदैविकत्वका आधान करना यह उसका वीर्य है.

(६) यश : स्वर्गापवर्गाधिकता : विहित फल स्वर्ग-अपवर्गकी तुलनामें विशिष्ट लगे. चाहे जितना फल दिखाओ लेकिन परम फलके साथ किसीकी भी तुलना हो नहीं सकती.

(७) श्री : स्वप्रतीत्यापि विशिष्टता : पंडित जगन्नाथ कहते हैं - "अरे जीव! तूने मिश्री, किसमिस, स्वर्गका, अमृतका भी पान किया हो तो भी एक बार जो कृष्ण कहनेमें मिठास आयी वह किसी दूसरेमें आई?"

इसीलिये एक शायरने कहा है :

निगाहोंने देखी, मुहब्बतने मानी।
तेरी बेमिसाली, तेरी लाजबाबी॥

१३३. मनोरथ अर्थात् अपनी मनपसन्द सेवाभावनाके रथमें प्रभुको पधराना. लेकिन जब जनताको दिखानेके लिये मनोरथ करते हैं तब मनोरथ मोटे तौर पर श्रीनाथके लिये न हो कर श्रीके लिये होता है. स्वोपार्जित श्रीको श्रीनाथके मनोरथके लिये खरचना वह भक्ति, लेकिन श्रीके मनोरथसे श्रीनाथको ठगना वह तो भगति है.

१३४. स्थायी भाव जब साकार होता है तब वह रूप उस भक्तके सामने प्रकट हो जाता है, दूसरेके सामने नहीं. क्योंकि दूसरेके हृदयमें वह भाव नहीं है. हृदयका भाव ही घनीभूत हो कर बाहर प्रकट हो जाता है. इसीलिये जिसका होता है उसे ही दर्शन होते हैं; इस कारणसे जो मनोरथ जनताको अपने ठाकुरजीके दिखानेके लिये करनेमें आता है, वह भक्तिभावमूलक न होकर लाभपूजाके हृदयमें खटकनेवाले अभावमूलक होता है.

१३५. जिसके लिये प्रेम है वह प्रेम स्वयं प्रियतमका रूप धारण

कर लेता है.

१३६. जब सर्वात्मभाव होता है तब सबमें प्रियतम दीखता है.

१३७. रसशास्त्रमें प्रेम धर्मी है. प्रियतम धर्म है. भक्तिशास्त्रमें भगवान् धर्मी और भक्ति धर्म है.

१३८. ज्ञानीकी क्रिया दोषनिवर्तनकी है. पहले मनकी गंदगी, विषयासक्ति साफ करो फिर ज्ञान होगा. जबकि भक्तिकी प्रक्रिया गुणाधानकी है. जिस-जिस प्रक्रियासे गुणका आधान होता है वह प्रक्रिया करो, दोष अपने आप दूर हो जायेंगे. गुणाधान प्रक्रियाकी मनोवृत्तिको सदा प्रवाहित रखो जिससे वृत्ति निष्प्रवाहमान होकर निरुपयोगी न हो जाय.

१३९. गुणाधान कैसे हो? दोष देखने बंद करो. ज्ञानी पहले प्रभुमें दोष देखता है. उनकी कृतिमें देखता है, जगत्को मायिक और मिथ्या कह कर. भक्त गुणसे शुरुआत करता है. गुण क्या होता है? जगत् प्रभुकी लीला है. यह जो नाम-रूपका विस्तार है वह अपने आनन्दकी अभिव्यक्तिके लिये है. प्रभुमें जो स्वगत है वह प्रकट करनेके लिये जगत्का विस्तार हुआ है.

१४०. भक्ति परमात्मामें पूरी तन्मयता है. जो कुछ दिखता है, सुनाई देता है उसमें परहेज नहीं रहता.

१४१. लक्सरी बसमें बैठ कर पिक्चर् देखते-देखते गंगास्नानके लिये जानेवालेके लिये गंगास्नान एक कर्म है. भावुक भक्तकी आँखमें गंगास्नानके लिये जो भावतन्मयता उमड़ती है वह कर्मीकी आँखमें कहां होती है?

१४२. भक्त, ज्ञानी अथवा अज्ञानी हो सकता है. ज्ञानी, भक्त अथवा अभक्त हो सकता है. कितने स्नेहको अज्ञानकी वृत्ति मानते हैं. लेकिन ज्ञानीको भी स्नेह तो होता है ज्ञेयके लिये.

१४३. जिसका संग करो उसके लिये काम पैदा होता है. जिस प्रकार शराबीको शराबकी तलब उठती है. प्रभुका संग करके देखो, प्रभुके प्रति खिचाव उत्पन्न होगा. यह तो सीधी सादी बात है. अटपटे सिद्धान्तोंको समझनेका प्रयत्न करनेवालेके लिये सीधी बात समझना अजीब लगता है. कहावत है कि सीधी रेखा खींचना बहुत टेढ़ी बात है. लेकिन टेढ़ीमेढ़ी रेखा खींचना उतनी ही सीधी सरल.

१४४. जगदीशका अनादर न हो ऐसी रीतिसे जगत्में जीना चाहिये.

१४५. ब्रह्मके गंगातटपर सत्-चित्-आनन्दका प्रवाह बह रहा है. लेकिन उस गंगामें भाव न हो तो जिस प्रकार मछली अथवा कछुए को गंगास्नानका फल या आनन्द नहीं मिलता वैसे ही भक्ति बगैर जगत्में रहनेवाले बहुत लाभोंसे वंचित रह जाते हैं. यह तो परमानन्द सागर है. लेकिन पानीमें रहनेवाली प्यासी मरती मछलीको देख कर कबीरको रोना आता है "पानी बिच मीन पियासी, मोहे सुनि सुनि आवे हांसी".

१४६. कृष्णसेवा तो डोरा है और षोडश ग्रंथोक्त सिद्धान्त मोती हैं. डोरा टूट जाये तो सिद्धान्त भी बिखर जायेंगे. जो डोरा सलामत रहेगा तो सिद्धान्त तो फिर भी पुरोये जा सकते हैं, इसलिये सेवा नहीं छूटनी चाहिये.

१४७. सर्वनिर्णयमें आपने आज्ञा की है कि भक्तिके अतिरेकमें कदाचित्

भूल हो जाये तो तुम्हें वह भूल नुकसान नहीं करेगी, प्रभु तुम्हें क्षमा कर देंगे. लेकिन कर्ममार्गीकी भूलको प्रभु क्षमा नहीं करते. उदाहरणार्थ एक बार मुझे बुखार आया. तब कुंदनजी (खवास)को ठंडे जलका कपड़ा मांथेपर रखनेके लिये कहा परन्तु उसे डर लगा कि भीगा कपड़ा रखनेसे मुझे निमोनिया न हो जाय इस कारण उसने भीगा कपड़ा रखनेकी मना कर दी. यह होनेके बाद मेरा उसके प्रति अति प्रेमके कारण (उसके प्रति) भाव खंडित नहीं हुआ. उसके बदले कोई तनख्वाह पानेवाला नौकर जो ऐसा करता तो उसका परिणाम तो कुछ और ही होता.

१४८. एक बार अकबरने बीरबलसे पूछा कि "मैं बड़ा कि खुदा?" बीरबलने तुरन्त उत्तर दिया कि "आप". कारण पूछने पर बताया, "मैं आपको क्रोधित कर दूं तो आप देशसे निकाल सकते हो. खुदा तो देशसे नहीं निकाल सकता." क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है. लेकिन नहीं, भक्तिरहित व्यक्तिका ब्रह्ममेंसे देशनिकाला हो गया है. गंगामें रहती मछलीका भी गंगामेंसे देशनिकाला हो गया.

१४९. पहलेके आचार्य अपना मत प्रकट करते हुए कहते थे कि यह शास्त्रोंका ही निश्चित अर्थ है. आजके उपदेशक शास्त्रकी बात भी अपनी कह कर वाह-वाही लूटते हैं.

१५०. महाप्रभुजीने कहा है कि **"शास्त्रोंका सौ बार विचार करके हरिकी आज्ञासे यह पंथ प्रकट हुआ है. मेरा सिद्धान्त वेद रामायण या महाभारत से विरुद्ध नहीं है"**.

१५१. पुस्तक तीन प्रकारकी होती हैं; अच्छी तरह पढ़नेवाली, प्रसंगोपात्त देखनेके लिये (शब्दकोष) और शोभा बढ़ानेके लिये. (आजके

फॅशन्में दीवानखानेमें सजावटके लिये पुस्तक रखते हैं उस प्रकार).

पुष्टिजीव : पढ़नेकी पुस्तक जैसे हैं. अर्थात् भगवत्सेवामें उपयोग आयें ऐसे.

मर्यादाजीव : प्रसंगोपात देखनेवाली पुस्तक जैसे हैं. जो कभी-कभी भगवत्सेवामें उपयोगमें आते हैं.

प्रवाहीजीव : सृष्टि चल रही है उसको दर्शनिके लिये शोभाके लिये रखी गई पुस्तक जैसी है. सृष्टिके अस्तित्वके लिये जीव जन्मते हैं. भगवत्सेवाके लिये उनका कोई उपयोग नहीं है. अलबत्ता लीलाकी सजावटके लिये उनका उपयोग है.

१५२. प्रभुने एकतामें अनेकता प्रकट की है. इस अनेकतामें एकताका ज्ञान होना वह ज्ञानीका सर्वात्मभाव और इस अनेकतामें एकताका भाव (स्नेह भाव) होना वह भक्तका सर्वात्मभाव.

१५३. ज्ञानीमें भान मुख्य है, भाव गौण है. भक्तमें भाव मुख्य है और भान गौण है. ऑपरेशन् थियेटर्में मरीज आखरी सांस लेता हो तब डॉक्टर्को उसका भान होता है लेकिन उसके प्रति हृदयमें भाव नहीं होता. जबकि मरीजके आत्मजनोंमें भाव मुख्य होता है, भान गौण होता है.

१५४. अपन्को अंगूठी हार चूड़ी ऐसा अलग-अलग दिखाई देता है, लेकिन चोरको तो सब सोना नज़र आता है. इस प्रकार ज्ञानी लोग अनेकतामें एकताका आनंद लेते हैं.

१५५. सर्वात्मभाव यह मनका धर्म है. जब-तक मन भगवद्रसमें सराबोर न हो जाये तब-तक उसे प्रभुसम्बन्धित व्यवहार पूरे तौर पर अच्छे नहीं लगते; नवीनताके तौर पर थोड़ी देर अच्छे लगते हैं, लेकिन बादमें मन उसमेंसे बाहर आनेके लिये मचल उठता

है. जबकि सच्चे भक्तको भगवद्रसमेंसे थोड़ी देर भी बाहर आना मछलीकी तरह नागवार गुजरता है.

१५६. शहरी जीवनके शोर-शराबेके हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि गांवकी अति शांति हमें अखरने लगती है. उसी प्रकार आंख कान नाक स्पर्श इत्यादि इन्द्रियोंके विषयोंके रस लेनेकी जीवको आदत सी पड़ गई है जिस कारण शुद्ध भगवद्रसमें वह आनंद नहीं ले पाता.

१५७. 'मानसी' अर्थात् सतत सेवाका ही विचार मनमें चले वह. कृष्णसेवा, व्रज मथुरा और द्वारिका के अनेक भक्तोंने की है, लेकिन अपने यहां तो केवल व्रजभक्तोंकी मानसी सेवाका ही कुछ प्रकार स्वीकारनेमें आया है.

१५८. मैं अर्थात्? 'मैं' में बहुतसी वस्तुओंका समावेश हो जाता है. मन बुद्धि आत्मा पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय देह कुल का अभिमान वगैरह. 'मैं' अर्थात् प्रभुका सेवक. जो तुम्हें प्रभुके सेवक होनेका अहम् है तो जितनी वस्तुओंके मैंपनेका विनियोग नहीं हो वह सब अनिवेदित रहेंगी. उदाहरणार्थ गो.बालकोंके यहां पंचद्राविडके हाथका खाया जाता था. मर्यादी वैष्णव बिनमर्यादी वैष्णवके साथ छूत-छात रखते हैं अपने निश्चित कोई अहम् होनेके कारण, और उस अहम्के समर्पित होनेके कारण घरमें बिराजते ठाकुरजीको भी वह मेंड़ पालनी पड़ती है.

१५९. बहुत करके सभी भावभूमिपर सेवा करनी चाहिये. माहात्म्यज्ञान, सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह, शास्त्रोक्त नवधाभक्ति, अपनी सामर्थ्य इत्यादि सबकी अभिव्यक्ति सेवामें होनी चाहिये. बालकको जिस प्रकार गोदमें खींच कर स्नेह अभिव्यक्त करते हैं उसी प्रकार

सेवामें स्नेह अभिव्यक्त होना चाहिये. शुरुआतमें कदाचित् स्नेह न भी हो लेकिन बालककी तरह मुद्रा करते-करते भी स्नेह प्रकट हो जायेगा. सेवामें अपन् व्रजभक्तोंके स्नेहकी अभिव्यक्तिको स्वीकारते हैं, मथुरा तथा द्वारिका के भक्तोंकी नहीं.

१६०. व्रजभक्तोंकों अपन् पूरे-पूरे तौरपर नहीं अनुसर सकते. महाप्रभुजीने उसकी सीमा बांधी है. उदाहरणार्थ यशोदामाँने तो अपने बालककी पिटाई भी की है. गोपियोंने स्नेहके आवेशमें गाली भी दी है. अपन् वैसा नहीं कर सकते. कारण? गोपियोंको माहात्म्यज्ञान नहीं था और अपनेमें गोपियों जैसा स्नेह नहीं है. इसलिये महाप्रभुजीने सीमा बांधी है कि व्रजभक्तोंका अनुसरण करो लेकिन उनके सर्व भावोंका नहीं. माहात्म्यज्ञानको नुकसान पहुँचे ऐसी भाषा नहीं बोलनी. जब-तक मियांबीबी बने नहीं तब-तक काजीकी दखलअन्दाजी तो स्वीकारनी पड़ेगी; अर्थात् जब-तक प्रभुके साथ अंतरंग सम्बन्ध नहीं हुआ, सानुभाव नहीं हुआ वहां-तक महाप्रभुजीकी बांधी हुई मर्यादा स्वीकारनी चाहिये.

१६१. माहात्म्यज्ञान भी इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि "प्रभुको शयन कराना, खिलाना इत्यादिकी क्या जरूरत है" ऐसे विचार दीमागमें आयें.

१६२. तुम्हारे पास जो कुछ है उसके हिसाबसे सेवा करो. व्रजभक्तोंने जो धराया उतना घी दूध मक्खन कहांसे लाओगे! परिस्थिति बदलनेपर नेग भी घटाना पड़ता है.

१६३. जिस वस्तुका अपनेको अहम् न हो वह वस्तु समर्पित करनेकी जरूरत नहीं है. हमारे तातजी महाराजको एक अंग्रेजका हाथ लग गया. इस कारण उन्होंने तीन दिनका उपवास और जप

किया. लेकिन आज-कलके ज़मानेमें ऐसा अहं किसीको होता नहीं है. तातजी महाराजमें ब्राह्मणास्मिता प्रबल थी इसलिये ऐसा व्यवहार उनके लिये ठीक था लेकिन अगर ऐसा अहं न हो तो ऐसी कड़क अपरस पालनी जरूरी भी नहीं है. नियमको यंत्रवत् बनाना और स्वयंमें अहंका न होना तो ऐसे किसी दूसरेकी वस्तुका समर्पण तो कदापि जरूरी नहीं है.

१६४. कृष्ण द्वारिकामें कदाचित् शिकार खेलते लेकिन हम शिकारका मनोरथ नहीं करते, क्योंकि व्रजमें आपने ऐसा नहीं किया.

१६५. गोपियोंने प्रभुको खोजनेके लिये न तो अहंकी परवाह की और न ही नवधाभक्ति अथवा शास्त्रोक्त शुद्धि-अशुद्धि की परवाह की. कारण? उनमें तन्मयता थी. उन्हें मार्गकी गरज नहीं थी. खुद प्रभुके पास दौड़ी तब दूसरी गोपी आ रही है अथवा नहीं उसका भी तो उन्हें भान नहीं था. इस रीतिसे आनेवाले व्यक्तियोंसे पगडंडी बन जाती है. लेकिन महाप्रभुजीने तो इस पगडंडीको मार्गमें बदल दिया. मार्ग बननेके बाद हम गोपियोंकी तरह अनियन्त्रित नहीं दौड़ सकते. मार्गके सारे नियमोंको ध्यानमें रख कर ही चलना पड़ेगा. मार्गमें ब्रह्मवादकी टॉर्चलाइट्के बगैर अपन् ठोकर खा बैठेंगे. जैसे कि कोई कहेगा कि "इस पत्थरकी अथवा धातुकी पूजा करते हो" तो यदि अपने पास ब्रह्मवादकी टॉर्चलाइट् न हो तो पुष्टिपथपर चलनेकी श्रद्धा डग-मगा जायेगी और हम ठोकर खा कर गिर जायेंगे.

१६६. बालक पढ़नेका फल या हेतु न जानता हो लेकिन बड़ोंके कहनेसे पढ़ता है तो भविष्यमें उसका लाभ मिलेगा. उसी प्रकार सेवाफलको समझे बगैर, गुरुके कहनेसे सेवा करें तो भविष्यमें उसका फल मिल सकेगा.

१६७. जिस प्रकार गंगामें जलके घटने-बढ़नेसे उसकी तीर्थरूपतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता उस प्रकार जगत्के उत्पत्ति-नाशसे अक्षरब्रह्ममें फरक नहीं पड़ता.

१६८. ब्रह्म स्वयं अक्षर है. क्षरता यह ब्रह्मकी सामर्थ्य है. यह उसका स्वभाव नहीं है (स्वभाव अनियम्य होता है). जिस प्रकार क्रोध सामान्य मनुष्योंका स्वभाव होता है लेकिन ऋषियोंने भी, जिन्होंने क्रोधके ऊपर पूर्ण संयम पा लिया था उसके बाद भी क्रोध किया है यह उनकी सामर्थ्य है.

१६९. धनिक लोगोंके पास प्रचुर मात्रामें धन-दौलत और जेवरात होते हैं. इसके उपरान्त कितने आभूषण पहनने अथवा नहीं पहनने यह उनकी इच्छाकी बात है. ऐसा तो नहीं है कि जितने जेवरात हैं उन्हें सारी दुनियांको दिखानेके लिये पहनना ही चाहिये. इसी प्रकार जगत्में अक्षरब्रह्मरूप प्रकट होना या नहीं यह उसकी इच्छाकी बात है.

१७०. सत् = होना. उदाहरणार्थ पुस्तक मकान चश्मा. चित् = अपने होनेका भान होना. उदाहरणार्थ अपनेको मनुष्य होनेका भान होना. कभी सुखरूप होता है, कभी दु:खरूप (बीमारी, व्यापारमें नुकसान इत्यादि दु:खरूप लगता है). जब होनेके भानमें हमेशा सुखरूपता हो तब वह सच्चिदानंद कहलाता है.

१७१. आनन्द कभी जड़रूप नहीं होता, चित् कभी असत् नहीं हो सकता. चित्में आनन्द हो अथवा न भी हो. लेकिन आनन्दमें सत् और चित् दोनों आ जातें हैं. आनन्द जो है वह ही ब्रह्मका पूरा-पूरा वर्णन है. लेकिन दूसरे लोग उसको गलत न समझें इसलिये आनन्दको सत्-चित् है ऐसा कहना पड़ता है. (जिस प्रकार दूसरा आदमी उससे टकरा नहीं जाये इसलिये

अंधे आदमीको बॅटरी रखनी पड़ती है).

१७२. उपनिषद् कहता है कि आनन्दसे जगत् उत्पन्न हुवा है, आनन्दमें स्थित है और आनन्दमें लय होना है. इसलिये आनन्दकी जिज्ञासा करो.

१७३. ब्रह्मका मुख्य लक्षण आनन्द ही है. सत् चित् तो समझनेके लिये शब्द ही हैं, लक्षण नहीं.

१७४. महाप्रभुजी शुद्धाद्वैतवादी कहलाते हैं. लेकिन उनके लिये योग्य संबोधन 'साकार ब्रह्मवादैक स्थापक' है. 'ब्रह्म' अर्थात् जो व्यापक है वह. तर्कशास्त्रके अनुसार व्यापक कभी साकार नहीं हो सकता, लेकिन महाप्रभुजी उसे नहीं स्वीकारते हैं.

गणितमें जिसे एक कहते हैं वह एक काम चलाऊ व्यवस्था है. उदाहरणार्थ मृगशीर्ष नक्षत्रमें दिखते एक तारेको दूरबीनद्वारा देखने पर उसमें एक करोड़ तारे दिखाई देंगे. एक हथेली लेकिन अंगुलीकी दृष्टिसे पांच हैं. एक शरीरमें अंग प्रत्यंग अनेक हैं.

गणितकी इस काम चलाऊ व्यवस्थाका वास्तविकताके साथ कोई लेना-देना नहीं है. साकारता व्यापकता का यह झगड़ा एक दो जैसा है. महाप्रभुजी कहते हैं "साकार भी व्यापक हो सकता है". पृथ्वी साकार है लेकिन उसके आस-पास तीनलाख मीलका गुरुत्वाकर्षणका घेरा है जिसके द्वारा वह चन्द्रको पकड़ रही है. वह निराकार पृथ्वी है और यह तीन लाख मीलका विस्तार नहीं दिखाई देते हुए भी मौजूद है. तर्कशास्त्रके अनुसार साकार निराकार का कठोर अर्थ नहीं लेना.

पर तत्त्व साकार है और उसका अर्थ है कृष्ण. यह कृष्ण ब्रह्म है और उसका अर्थ साकार होते हुए भी व्यापक है.

साकारकी व्यापकता : अक्षरब्रह्म

व्यापककी साकारता : पुरुषोत्तम

१७५. साकारता अथवा व्यापकता, तुम इन दोनोंमेंसे जिस किसीको देख रहे हो उसके द्वारा दूसरेको देखनेके लिये दिव्यदृष्टि चाहिये. अर्जुन कृष्णको साकारपुरुषरूपमें देख रहा था. उसे ब्रह्मता दिखानेके लिये कृष्णको दिव्यदृष्टि देनी पड़ी. दूसरे कितने ब्रह्मज्ञानी व्यापक ब्रह्मका अनुभव करते हुए भी कृष्णके दर्शनसे वंचित रह जाते हैं. क्योंकि उन्हें दिव्यदृष्टि नहीं मिली. लेकिन अगर मिले तो श्रीकृष्ण दिखाई दें.

१७६. पुरुष समष्टि = व्यापक चेतना; व्यष्टि जीव = देहमें बद्ध चेतना. हवामें नमी जैसे सर्वत्र व्यापक है लेकिन बरफके पानीका गिलास हवामें रखने पर बाहरकी नमी पानीकी बूंद बन कर गिलासके बाहर दीखती है, वैसे ही व्यापक चेतनामेंसे देहबद्ध चेतनावाला 'जीव' प्रकट होता है. बाहरकी नमी बरफको मिलनेका प्रयत्न करती है, लेकिन बीचमें गिलासकी दीवार होनेके कारण मिल नहीं सकती उसी प्रकार सत् अंशमें, आनन्दको खोजनेके लिये पुरुष समष्टिमेंसे व्यष्टि चिदंश होकर बाहर आता है.

१७७. समष्टि अंतर्यामी : जो पृथ्वीके भीतर रह कर पृथ्वीका नियमन करता है.

व्यष्टि अंतर्यामी: प्रत्येक जीवात्माके भीतर रहा हुवा प्रभु. समष्टि अंतर्यामीके सब अवतार होते हैं. चौबीस अवतार 'लीलावतार' कहलाते हैं. ब्रह्मा विष्णु महेश ये 'गुणावतार' कहलाते हैं.

१७८. उपनिषद्में है कि जिस प्रकार अग्निमेंसे चिंगारी निकलती है उस ही प्रकार ब्रह्ममेंसे जीव प्रकटा है. अग्निको आनन्दात्मक ब्रह्म कहो. उसमें निकलती चिंगारी प्रारम्भमें अग्नि ही होती है लेकिन बादमें धीरे-धीरे यह अग्नि शांत होती जाती है और केवल उष्णता रह जाती है. उष्णता अर्थात् चिदंश. यह

उष्ण चिंगारी जीवके रूपमें गिनी जा सकती है, जिसमेंसे आनन्दअंश (अग्नि) तिरोहित हो गया है. मात्र चिद् और सद् अंश हैं. थोड़ी देर बाद उसमेंसे उष्णता भी चली जायगी. मात्र काला कण रह जायगा. यह कण जगत्का सद् अंश है जिसमेंसे चिद् और आनन्द अंश तिरोहित हो गया है.

१७९. श्रीशंकराचार्यजी जगत्को सत् नहीं कहते क्योंकि उसका बाध होता है और असद् भी नहीं कहते क्योंकि दिखाई देता है. इसलिये वह उसे 'सदसद्विलक्षण' अथवा 'मिथ्या' कहते हैं. यहींसे फिर विवाद शुरु होता है.

श्रीमध्वाचार्यजी कहते हैं: जगत्को या तो सद् मानो अथवा असद् लेकिन विलक्षण किस कारण मानना चाहिये? जगत् प्रतीत भी हो रहा है और जो बाधित भी अगर हो रहा है तो दोनोंको स्वीकारो. वास्तवमें अद्वैत दिखता है और अद्वैतमें द्वैत दिखाई देता है. हथेलीके एकत्वमें अंगुलीयोंके पंचत्वका जिस प्रकार बाध नहीं होता; प्रहलादने जिस प्रकार नर और सिंह दोनोंके एक ही स्वरूपमें दर्शन करे, उसी प्रकार ब्रह्मके दोनों रूपोंको स्वीकारना चाहिये. ब्रह्मका स्वरूप श्रुति द्वारा ही समझा जा सकता है और श्रुतिको तो दोनों रूप स्वीकार्य हैं. ब्रह्मज्ञान होनेके बाद श्रीशंकराचार्यजीके लिये तो ईश्वर ब्रह्म शिष्य शास्त्र सब कुछ बाधित हो जायगा. तो बादमें उसका उपदेश किस प्रकार दिया जा सकेगा? उसके लिये कहते हैं: सर्पमें रस्सीका ज्ञान होनेके बाद भी हृदयमें जो थोड़ी देरके लिये कम्पन रह जाता है वैसे ही ब्रह्मज्ञान होनेके बाद थोड़े समय तक शिष्य शास्त्र आदिका भेद रह जाता है उस समयमें उन्हें उपदेश दिया है.

१८०. मायामें विरुद्धधर्मत्व दूषण है, लेकिन ब्रह्ममें वह ही वस्तु भूषणरूप

बन जाती है. भूषण इस प्रकार कि सर्वत्र लीलाका बोध होने लगेगा.

१८१. पुरुष = चेतन प्रकृति = जड़. पुरुषमें क्रिया ज्ञान संभव है लेकिन प्रकृतिमें संभव नहीं है. प्रकृति उसे प्रकट कर सकती है. पुरुषके सानिध्यसे प्रकृतिमें खलबलाहट होती है और जगत् उत्पन्न होता है. पुरुष प्रकृतिका संबंध पंगु और अंधे के जैसा होता है. दोनोंके संयोगसे कार्य सिद्ध होता है. उदाहरणार्थ - पंखा जड़ निष्क्रिय है, वह अपने आप नहीं चल सकता. बिजली चेतन सक्रिय है, लेकिन हवा नहीं फैंक सकती. पंखा बिजली दोंनो मिल कर हवा फैंक सकते हैं. चेतन और चेतना का सम्बन्ध धर्मी और धर्म के सम्बन्ध जैसा है. चेतन = धर्मी. चेतना = धर्म.

१८२. सूरदासजी जैसा कीर्तनकार हो, गुसांईजी जैसा भोग धरनेवाला हो, तो भी श्रीनाथजीने नहीं आरोगा ऐसा वार्ता प्रसंग है. तो प्रभु अभक्तका तथा कर्मकांड द्वारा धरा हुवा किस प्रकार आरोगेंगे ?

१८३. भौतिकता खाली शहरोंमें ही नहीं बढ़ी है; लेकिन यात्रा धामोंमें भी बढ़ी है, इसलिये भौतिकतासे भागना व्यर्थ है. नाथद्वारामें भी प्रभुका प्रसाद बिकता है. क्योंकि वहांके सेवक वर्गको प्रसादकी बजाय द्रव्य अधिक अच्छा लगता है, नहीं तो प्रसादको बेच कर द्रव्य क्यों लेते ? यह वहांकी घोर भौतिकता सूचित करती है.

१८४. स्नेह दोके बीचमें होता है लेकिन उसमें जो अद्वैतका आरोप न हो तो वह स्नेह कच्चा है. उसी प्रकार जब एकप्राण हो जाय तब एकका दुःख अपमान इत्यादि सब कुछ दूसरेको

भी अपना ही लगता है.

स्नेहके कारण जो अभेद बुद्धि आती है वह उसकी कोमलता है. यह हृदयमें होता भाव है. द्वैतका भान तो होगा लेकिन भाव अद्वैतका होगा. अतिशय स्नेहके कारण अभेदभाव उत्पन्न होगा और साथ-साथ दर्शन भी होगा. ज्ञानके कारण जो अभेद अनुभवमें आता है यह उसकी कठोरता है. यह बुद्धिमें प्रतीत होता भान ही है.

स्नेहकी आवश्यकता दोकी है. उसका परिपाक अद्वैत है. यह स्नेह एक पक्षका भी हो तो भी अभेद अनुभवमें आता है. मैं तुझे चाहता हूँ इसलिये कि तू कृपालु है, नहीं; इस लोक-परलोककी किसी चाहनासे नहीं, लेकिन चाहनेकी खातिर ही चाहता हूं; तुझे कृपा करनी है कि नहीं यह तेरी इच्छाकी बात है, मेरी नहीं. परमानन्ददासजीने कहा है कि "जो मेरो यह लोक जायगो अरु परलोक नसाय री. नंदनंदनको तौऊ न छांडू मिलूंगी निसान बजायरी".

१८५. माताका बालकमें स्नेह यह स्थायी भाव है. बालकके कारण कभी-कभाद अनुभवमें आती परेशानी या क्रोध यह संचारीभाव है. उसी प्रकार भक्तिमार्गमें "तू मेरा है" यह स्थायीभाव है. "मैं तेरा हूं और हम दोनों एक हैं" (अहं ब्रह्मास्मि) यह संचारीभाव है. ज्ञानमार्गमें "अहं ब्रह्मास्मि" स्थायीभाव है बाकी सब संचारी हैं. केवलाद्वैतद्रष्टा श्रीशंकराचार्यजीने इन संचारी भावोंके असरको गौण नहीं माना उसी कारण उन्होंने सुंदर स्तोत्र रचे हैं. भक्तका "तू मेरा है" दृढ़भाव है. क्योंकि उसमें निश्चल निर्भरता है.

१८६. अपरिच्छिन्न ब्रह्ममेंसे प्रगट होती अपनी वैयक्तिक चेतना कितनी क्षुद्र है और इस क्षुद्र अहंतासे अनुभवमें आती कर्तृत्वशक्ति,

भोक्तृत्वशक्ति, क्रियाशक्ति, बल, ऐश्वर्य भी कितने क्षुद्र होते हैं; यह सब होते हुये भी उनके क्षुद्रबलके ऊपर ब्रह्मको नापना यह मूर्खता है. नन्ददासजी कहते हैं "चातककी चोंच सब घन कैसे समाय". लेकिन जो अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व को ब्रह्मके साथ संबंधित कर लें अर्थात् सर्वत्र लीलाबोध रखें तो संगति बैठेगी, नहीं तो दुर्गति होगी. "तुम्हारे द्वारा जो कुछ हो रहा है वह लीला है" ऐसी दृष्टि होने पर दुःखका अनुभव हलका होगा.

१८७. जिस भक्तमें भगवत्सानिध्य है उसमें भगवद्भाव रखना चाहिये.

१८८. नदीमें जब बाढ़ आती है तब वह किनारे पर उभरती है और किनारोंको ढक देती है. उस ही प्रकार छलकती भक्तिके पूरमें आधिभौतिक तथा आधिदैविक दोनों किनारे ढंक जाते हैं. जब-तक भक्ति नहीं छलकती तब-तक इन दोनों किनारोंका भेद स्पष्ट रहेगा.

१८९. क्रिकेट खेलते हुवे हाथ-पैर टूटे फिर भी किसीको उसकी फिक्र नहीं होती क्योंकि यह मजेके लिये है. अन्यथा लड़ाई झगड़ा करके डंडेसे किसीका माथा फोड़ो तो पुलिस केस बन जायेगा. उसी प्रकार माया कराये तो दुःख और ब्रह्म कराये तो सुख क्योंकि ब्रह्म परमानन्दरूप है अर्थात् सुख-दुःख दोनोंमें आनन्दप्रद है. "साहिल भी अपना तूफां भी अपना. क्या पार उतरें क्या डूब जांय".

१९०. भक्तिमें माहात्म्यज्ञानका सहारा लेना यह व्यापारके लिये बँकमेंसे उधार लेने जैसा है. व्यापार जमनेके बाद उधार चुका देना चाहिये क्योंकि फिर उसकी जरूरत नहीं रहती.

१९१. कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभिमान यह ही उपाधि है. इस अविद्यासे संसार होता है. जीव अंश है और अंशीमें ही स्थित है लेकिन जीवको अनुभव नहीं होता वही उसकी उपाधि है.

१९२. ज्ञानमार्गमें 'घटाकाश'का उदाहरण दिया जाता है. भक्तिमार्गमें कर्णका उदाहरण योग्य लगता है. वह अज्ञानसे अपनेको सूतपुत्र समझता था. वह अपना असली स्वरूप अज्ञानसे भूल गया था.

गलेमें हार होते हुवे भी भूलने पर सब ठिकाने ढूंढा जाता है उसी प्रकार अपनी ब्रह्मात्मकता खोई गई है. खाली कोई कह दे कि हार गलेमें ही है तो मिल जायगा. उस ही प्रकार अपनी ब्रह्मात्मकताकी जानकारी हो सकती है. सर्व ब्रह्म है इसलिये "मैं भी ब्रह्म हूँ" इसका नाम 'ब्रह्मात्मकता' और खाली "मैं ही ब्रह्म हूँ" वह 'ब्रह्मता'. ब्रह्मात्मकता = "सर्व ब्रह्म है" इसलिये "मैं ब्रह्म हूँ".

ब्रह्मता = "मैं ही ब्रह्म हूँ" इसलिये सब कुछ मिथ्या है.

१९३. अपने भीतर जब ब्रह्मात्मकताका अनुभव होगा और अपनेको महसूस होगा कि मैं खुद ही अक्षर हूँ; और अक्षर तो पुरुषोत्तमका अधिष्ठान है तो मेरेमें भी परमात्मा प्रकट हो सकता है. लेकिन जब-तक यह समझमें नहीं आता तब-तक प्रभु केवल गोलोक अथवा वैकुण्ठ में ही हैं ऐसा लगेगा.

१९४. बुद्धिमता या शास्त्रज्ञता यह ज्ञानमार्गीय ज्ञान नहीं है. यह तो नींवकी जरूरत है, जो कर्म ज्ञान भक्ति और संसार में भी चाहिये.

१९५. अपन् जैसे घरमें फ्रिज, टी.वी. रेडियो इत्यादि रख कर उसका

आनन्द लेते हैं वैसे ही प्रभु जगत् प्रकट करके उसमें आनन्द लेते हैं. जिस प्रकार बालकको जन्म दे कर मां-बाप उसमें आनंदित होते हैं. पुष्टिजीवके साथ प्रभु पुष्टिलीलाका आनन्द लेते हैं, मर्यादाजीवके साथ प्रभु मर्यादालीलाका आनन्द लेते हैं, प्रवाहीजीवके साथ प्रवाहलीलाका आनन्द लेते हैं; प्रभु तो सर्वमेंसे निरुपाधि आनन्द ले रहे हैं. लेकिन अपनेमें क्या कमी है कि अपन् यदि प्रवाही हैं तो कृष्णका भी आनन्द नहीं ले सकते. प्रभु तो पत्र पुष्प से भी आनन्द लेते हैं तो पुष्टिजीवसे क्यों नहीं आनन्द लें?

१९६. जीव जब जड़से आनन्द लेनेका प्रयत्न करता है अथवा जब जीव जीवके साथ आनन्द लेनेका प्रयत्न करता है वह तो केवल क्षणिक होता है लेकिन जब जीव कृष्ण द्वारा आनन्द लेता है तब वह निरवधि हो जाता है क्योंकि कृष्णका स्वयंका आनन्द जीवमें चमकता है. इस आनन्दका मूल कृष्ण ही होनेसे उसकी कोई अवधि नहीं रहती.

१९७. पुष्टिभक्तद्वारा जो प्रकटित आनन्द है वह मूलमें तो कृष्णके आनन्दका ही परावर्तन है; अथवा तो भक्तमें जब प्रभुके कृपानन्दका प्रेमानन्द रूपमें प्रतिबिंब पड़ता है तब प्रकट होता आनन्द समुद्र जैसा हो जाता है जिसमें प्रभु विहार कर रहे होते हैं. यह आनन्द कैसा है? प्रभु द्वारा दिया गया है स्वरूपात्मक है; नहीं तो प्रभुकी आत्मरमणता खंडित हो जाय. भक्त कहता है "मैंने स्तुति करी है लेकिन तेरी प्रेरणा से. इसमें मेरा कुछ भी नहीं है, लेकिन तुझे तो उसके द्वारा आनन्द मिला ना!"

जिस प्रकार तोता हमारी सिखाई बोली बोलता है और उसे सुन कर अपन् प्रसन्न होते हैं ऐसे ही जगत्में कर्तृत्व और

भोक्तृत्व ब्रह्मका ही है. अपन् तो उसके खिलौने हैं.

१९८. श्रीशंकराचार्यजी, ब्रह्म मायाके कारण जीव जगत् के रूपमें भासता है, यह बात तीन तरह से समझाते हैं:-

(१) अवच्छेदवाद: महाकाश = परब्रह्म, घटाकाश = जीव, घड़ा = अविद्या.

(२) प्रतिबिम्बवाद: व्यक्तिके सामने दस शीशे रखो तो उसमें दस ही प्रतिबिम्ब पड़ेंगे. व्यक्ति एक होते हुए भी उसके अनेक प्रतिबिंब पड़ते हैं. उसी प्रकार ब्रह्म एक होते हुए भी मायाके दर्पणके कारण अनेक जीवरूपमें ब्रह्मके अनेक प्रतिबिंब पड़ते हैं. बिम्ब = ब्रह्म, प्रतिबिंब = जीव, दर्पण = माया.

(३) व्याधसूनु पक्ष: राजकुमारको शिकारी पाले तो राजकुमार अपनेको शिकारी समझने लगता है. (कौन्तेय - राधेयकी तरह)

लेकिन हम कहते हैं कि ब्रह्म अपने सकंल्पसे एकमेंसे अनेक बना है. आनन्दका तिरोभाव भी ब्रह्मकी इच्छासे ही हुवा है. कारण ब्रह्मकी तरह जीव भी आनन्दात्मक हो तो लीला भली प्रकार न होगी.

श्रीशंकराचार्यजी अपने आपको मायावादी नहीं कहते, अपन् उनको 'मायावादी' कहते हैं; कारण ब्रह्मके एकमेंसे अनेक होनेके कारणमें शंकराचार्यजी पहले ही चरणमें मायाको ले आते हैं लेकिन हम आखिरी चरणमें मायाको लाते हैं.

(क) अखंड सच्चिदानन्द

(ख) एकका अनेकत्व (श्रीशंकराचार्यजी = अविद्या या माया के द्वारा; श्रीवल्लभाचार्यजी = शुभ लीलाके संकल्पसे)

(ग) आनन्दका तिरोधान: ब्रह्मने क्रीड़ाके लिये यह सब किया है ऐसा अपन् मानते हैं. श्रीशंकराचार्यजीके अनुसार वह अपनी अज्ञानजन्य भ्रान्ति है.

(घ) जीवमें ज्ञानका अभाव.

(ङ) अविद्याके सम्पर्कमें आनेके बाद जीव अपने ब्रह्मत्वको पहचान नहीं सकता.

यहां आखिरी चरणमें अविद्या जीवका स्पर्श करती है. लेकिन श्रीशंकराचार्यजी पहलेसे ही उसे लगाते हैं इसलिए हम उनको 'मायावादी' कहते हैं.

१९९. जीवमें जब ब्रह्मके गुण प्रवेश होने लगते हैं तब उसे ब्रह्मकी व्यापकताका अनुभव जरूर होता है लेकिन स्वयं व्यापक नहीं बनता और जब व्यापक बन जाता है तो जीव नहीं रहता. इस व्यापकताके अनुभवमें बहुतोंको 'मैं सूर्य हूँ चन्द्र हूँ' ऐसा अनुभव होता है.

२००. भक्त शृंगार धराये हुए प्रभुके दर्शन करता है. अभक्त भगवान्‌के धराये हुए शृंगारके दर्शन करता है. अभक्तोंकी आंख शृंगारमें ही अटकी रहती है. प्रभु तक नहीं पहुंचती. "आज तो केसरका हिंडोरा है, आज तो छप्पन भोगके दर्शन हैं" ऐसा जब लोग कहते हैं तब प्रभुके बजाय भोगका महत्त्व बढ़ जाता है. भक्तको भोक्ता दीखता है, अभक्तको भोग.

२०१. माणिकचंदने सर्वस्व निवेदन किया वह सिद्धान्त नहीं लेकिन मनोरथ है. मनोरथ कर सकते हैं लेकिन वह ही सिद्धान्त है ऐसा नहीं समझना चाहिये. दामोदरदासजी सम्भलवाले कितने पान आरोगाते थे, लेकिन वह उनका मनोरथ ही था.

२०२. शुद्धपुष्टि = माहात्म्यज्ञान नहीं है, मात्र स्नेहसे स्वरूपको जानना है. लेकिन वह ज्ञान भक्तकी गरजके बगैर जानना है; इसलिये उसको ज्ञान हो अथवा न हो, फरक नहीं पड़ता. लेकिन पुष्टिपुष्टिमें माहात्म्य जानना जरूरी है.

२०३. तामसी भक्तोंको तामसलीला अच्छी लगती है; जीव स्वभाव नहीं बदल सकता इस कारण प्रभुको त्रिविध लीला करनी पड़ती है. बच्चेके साथ बच्चे जैसी बात हो तो बात बनें, नहीं तो अधबीचमें ही अटक जाये.

२०४. मिश्र कक्षाका जीव व्यसन दशा तक पहुंच सकता है लेकिन यह प्रभुको खोजनेवाले जीव हैं. शुद्धपुष्टिजीव भक्ति बिना हो सकता है लेकिन इनको प्रभु स्वयं खोज रहे होते हैं. नंदगृहमें प्रागट्यके पहले गोकुलके गोप-गोपियोंमें प्रेम आसक्ति व्यसन वगैरह नहीं थे.

२०५. पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाके जीवोंमें परिवर्तन नहीं होता लेकिन पुष्टिप्रवाह पुष्टिमर्यादा और पुष्टिपुष्टि में वरण और सोपान दोनोंके भाव हैं इसलिये एकसे दूसरेमें जाते हैं (बहुतसे टीकाकार कहते हैं कि नहीं भी जाते).

।। नवरत्न ।।

१. उपनिषद्में श्लोक है कि आहारशुद्धिसे मनकी शुद्धि होती है. मन शुद्ध होनेसे स्मृति स्थिर रहती है. स्मृति अर्थात् परमात्माके प्रति करे हुए निवेदनकी स्मृति. आकाशमें जैसे समग्र तारामण्डल अपना स्थान बदलता है लेकिन वह अचल ध्रुवके आसपास ही घूमता है, वैसे ही दुनियांके सारे लौकिक व्यवहारोंको चलने देना लेकिन मनमें स्मृति अखण्ड रखनी.

२. अशक्तिके कारण सेवा न हो सके तो भी आत्मनिवेदनकी स्मृति तो बनी ही रहनी चाहिये.

३. जिस व्यक्तिके संगसे आत्मनिवेदनका भाव आत्मसमर्पणमें विकसित न हो वैसी व्यक्ति, विचार अथवा पुस्तक का संग, संगदोष है.

४. प्रभुके गुण अनन्त हैं, लेकिन अपनेमें जो बीजभाव है उसके अनुरूप गुणमें अपनी आसक्ति होती है. किसीको टॅलिस्कोप्से देखना पसन्द आता है, किसीको माइक्रोस्कोप्से देखना अच्छा लगता है. मतलब किसीको "प्रभु महान हैं, अनेक ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, सृष्टिके पालन कर्ता हैं" ऐसे गुणमें आसक्ति होती है, किसीको कुछ दूसरे गुण प्यारे लगते हैं जैसे कि प्रभु जिद्दी हैं, नटखट हैं. जयदेवजीसे प्रभुने कहा कि तू चोरी कर और तेरी जो पिटाई होगी उसे मुझे देखना है. प्रभुकी जिद जयदेवजीको पूरी करनी पड़ी और मार खानी पड़ी.

५. भक्तिका ज्ञान अथवा अज्ञान में बटवारा नहीं हो सकता. भक्ति एक तीसरी कोटिमें है. भक्तिभाव ज्ञानीको भी हो सकता है, अज्ञानीको भी. स्नेह अथवा भक्ति ज्ञान-अज्ञानसे अलग तीसरी ही अवस्था है.

६. कारागारमें जब प्रभु प्रकट हुवे तब उस चतुर्भुज स्वरूपकी देवकीजीने स्तुति करी "आप सृष्टिके पालनकर्ता हो, कालके नियामक हो" इत्यादि. लेकिन जब स्नेह उमड़ पड़ा तब कहने लगी कि "आप जल्दीसे अपना स्वरूप छिपा लो, कंस आपको देख लेगा तो मार डालेगा." इस प्रकार स्नेहमें कहीं तो ज्ञान-अज्ञान दोनों रहते हैं, अथवा कोई भी नहीं रहता.

७. गुणासक्ति और स्वरूपासक्ति में कुछ भेद है. प्रभुके अनन्त गुण हैं लेकिन अपनी आसक्ति किसी-किसी गुणमें ही होती है. उदाहरणार्थ, जो हम अति गंभीर स्वभावके हों तो बच्चेकी शैतानी हम पसन्द नहीं करते, लेकिन जो स्वभाव थोड़ा शरारती हो तो बच्चोंकी शैतानी चलने देते हैं. बच्चेमें तो दोनों गुण हैं, लेकिन हम अपने स्वभावके अनुसार गुण पसन्द करते हैं, वैसे ही प्रभुके गुणोंको समझना.

८. किसीको गुणासक्तिके बाद स्वरूपासक्ति होती है. किसीको स्वरूपासक्तिके बाद गुणासक्ति होती है. इसमें कोई नियम नहीं है लेकिन दोनों जरूरी हैं. दोनोंके बिना भक्ति अधूरी है. नामसेवा और स्वरूपसेवा दोनोंमें आसक्ति हो तो भक्ति पूरी खिल उठती है.

९. सारे जगत्को ब्रह्मरूप मानना चाहिये. लेकिन ब्रह्मस्वरूपतया बरताव नहीं करना चाहिये क्योंकि वह ब्रह्मको अभिलषित लीलाभेदकी अवहेलना बन जाती है.

१०. नवरत्नमें सिद्धान्त नहीं हैं, उपाय हैं. हरेक उपदेश दवा है. दवाको खानेकी खुराक नहीं समझना.

११. आसकरण राजाको अंतिम उन्माद अवस्थामें सेव्यस्वरूप गुसांईजीके

घर पधरा देने पड़े. तो प्रश्न खड़ा होता है कि भक्तिमें स्वरूपकी आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि स्वरूपके आधारपर भक्तको प्रभुपर प्रेम और पीछे विरह उत्पन्न होता है. पहलेसे ही स्वरूपको विदा कर दो और पीछे कहो कि हम तुम्हारे कारण मरेंगे, तो यह कैसा स्नेह है!

१२. कथामें भी आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक बाते आती हैं. तुम्हारी रुचि किसमें है उससे तुम्हारे मनकी झुकानकी खबर पड़ती है. ज्ञानमार्गियोंका मन प्रभुकी लीलामें नहीं चौंटता लेकिन उसी बातको वह दूसरी तरीकेसे कहते हैं. उदाहरणार्थ, पूतना अविद्याका स्वरूप है और प्रभु अखण्ड बोधस्वरूप हैं. उन्होंने उसका वध किया. इस प्रकारकी कथामें उनकी रुचि अधिक होती है. भक्तिमार्गीयको अविद्या-अखण्डबोधकी कथा, श्रीकृष्णने पूतनाको मारा, इन शब्दोंमें अच्छी लगती है.

१३. कथा प्रवचन में लोग अनेक कारणोंसे जाते हैं. कोई ज्ञान बटोरनेके लिये, कोई भावसंचयके लिये, कोई परिचयसंचयके लिये, कोई प्रतिष्ठासंचयके लिये (अनेक बड़े लोग कथामें जाते हैं तो मैं भी जाऊं) जाते हैं.

१४. श्रीमहाप्रभुजी चेतावनी देते हैं कि जिसका पुष्टिमार्गमें अंगीकार हुवा है उसे प्रभु लोक-वेदमें स्वस्थ नहीं रखते, लोक-वेदमें डूबने नहीं देते. इस बातके लिये सर्व पुष्टिभक्तोंको साक्षी बननेके लिये कहते हैं. तुम ऐसा मानते हो कि भक्तिसे तुम्हारी दुकान अच्छी चलेगी अथवा तुम्हारा कुटुम्ब बहुत सुखी बनेगा तो तुम भूल कर रहे हो. यह कदाचित् तुमको पूरा बरबाद कर दे तो भी भक्ति स्थिर रह सकती है. भाव बढ़ता रहे तो ही प्रभु कृपा समझनी.

१५. लोक-वेद खो कर भी प्रभु प्राप्तिकी लगन बनी रहे तो ही पुष्टिस्थ प्रभुको झकझोर पायेगा. जैसे पागल हाथीको छेड़नेके बाद वह अपनी मर्यादा भी तोड़ेगा और तुम्हारी भी तोड़ेगा. उसकी कृपा झेलनेकी शक्ति तुममें होनी चाहिये. जिस प्रकारसे दो राजा संधि करनेके लिये मिलते हैं तब वे अपनी सेना तथा किल्लेके बाहर किसी तीसरे ही स्थान पर मिलते हैं. वैसे ही तुम लोक-वेदके किल्लेमें सुरक्षित रहके, आत्माराम प्रभुको भी संधि करनेके लिये आत्मरमणमेंसे बाहर आनेका आह्वाहन दो तो वे यूंही नहीं आयेंगे जब-तक तुम लोक-वेदके किल्लेसे बाहर नहीं निकलते.

१६. प्रमाण अर्थात् नियमके अनुसार प्रभुका व्यवहार और प्रमेय अर्थात् इन नियमोंमें प्रभुद्वारा दर्शाया हुवा व्युत्क्रम. पुष्टिमें केवल प्रमेयबलसे ही सब कुछ होता है ऐसा नहीं है. कभी-कभाक प्रमाणसे भी होता है उसी प्रकार मर्यादामें कभी-कभाक प्रमेयबल भी प्रयोगमें आता हुवा दिखता है.

१७. भगवत्सेवाके लिये भगवन्मंदिरमें रहना तो उत्तम बात नहीं है लेकिन भगवत्सेवाके लिये अपने घरमें भगवत्स्वरूप पधरा लेना चाहिये. इस कारण महाप्रभुजीके सिद्धान्तके अनुसार मंदिर नहीं होने चाहिये, लेकिन श्रीनाथजीने जिद्दसे मंदिर बनवाया. इस अपवादको सुधारनेके लिये प्रभुचरण गुसांईजीने मंदिरके चारों तरफकी ज़मीन खरीद कर अपने घरमें नहीं तो गांवमें श्रीनाथजीकी सेवा करी. उसके लिये हाल हीमें सरकारके गलत कायदोंके कारण और हमारी भक्तिके व्यवसायकी मनोवृत्तिके कारण अपने सिद्धान्त भाव और परम्परा से विपरीत सार्वजनिक मंदिर ठहरानेमें आये हैं.

१८. शास्त्रमें प्राणप्रतिष्ठाके बारेमें लिखा है कि जिस मूर्तिको कोई

शूद्र छू ले अथवा खंडित हो जाये तो उसकी पूजा करना पाप है. महाप्रभुजीने सोचा कि जो सेवा सम्पूर्ण शास्त्रके आधारपर करनेमें आये तो स्त्री-शूद्रादि सेवा नहीं कर सकेंगे, इसलिये आपने आज्ञा दी ''सेवा भावनासे करनी''. इस प्रकार सेवा शास्त्रोक्त होते हुवे भी खाली उसके ऊपर ही निर्भर नहीं है. उदाहरणार्थ रामनवमी जन्माष्टमी वगैरहके दिन सेवामें वेदमंत्र बोले जाते हैं. शूद्र भले मंत्र न बोले लेकिन पलना तो झुला सकता है. अगर फिरसे प्राणप्रतिष्ठाकी प्रथा अपनायी जाये तो भाव खंडित हो जाये. इसलिये पुष्ट करना ही रखा. पुष्ट करना अर्थात् भाव स्थापित करना.

१९. महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि ''शुद्धतम हो कर सेवा करो'' कितनी स्वच्छताको तुम शुद्धतम मानते हो वह तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है. एक वल्लभकुलके महाराज कानमें एक गागर जल डलवायें तब उनको लगता कि मैं अब शुद्ध हुवा. इस प्रकार शुद्धिका माप हरेकके लिये अलग है. तुम्हारी दृष्टिमें सम्पूर्ण शुद्ध होनेका जो माप है उससे कम शुद्धि रखना, अनाचार है. इसलिये अपरस कैसी पालनी ये तुम्हारा सिरदर्द है, प्रभुका नहीं. भगवत्सेवामें अपरस अ+परसकी तरह अप+रस भी हो सकती है.

२०. ब्रह्म सर्वत्र है इसलिये मूर्तिमें भी है और सर्व व्यक्तियोंमें भी है ऐसा होते हुए भी सबमें रहे हुवे प्रभुके साथ तुम भावात्मक सम्बन्ध निभा सकोगे? वह अधूरा है. इसके लिये एक स्वरूपको पसन्द करो कि मैं इस रूपमें प्रभुके साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करूंगा, इस रूपमें मैं 'इस'की सेवा करूंगा.
लड़का लड़कीकी सगाई होनेके बाद आपसमें भावात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है. उसके बाद वह कन्या अथवा स्त्री नहीं

रह जाती, लेकिन उसकी पत्नी बन जाती है. उसी प्रकार गुरु-शिष्यमें तथा मित्र-मित्रमें भावात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है. भावकी बहुत ही बारीक सीमारेखा है. भाव स्थापित होता है तब स्त्री पत्नी बन जाती है, पंडित गुरु बन जाता है और भाव खंडित हुवा तो पत्नी सामान्य स्त्री बन जाती है और गुरु पंडित हो जाता है.

२१. भाव तुम्हारी नज़रमें छलकता है. हृदयमें भरे होनेके कारण अमुक व्यक्ति अथवा वस्तुमें नहीं है. शीरी-फरहादके किस्सेमें शीरी बदसूरत थी लेकिन फरहादके लिये तो अप्सरासे भी सुंदर थी. कारण आंखोंमें भाव था. उसी प्रकार बहुत जन श्रीठाकुरजीकी वस्त्रसेवा करते हैं. दूसरेकी दृष्टिमें तो यह कपड़ेके टुकड़ेकी सेवा है, इसमें दोष आंखका है. कपड़ेमें श्रीठाकुरजीके दर्शनके लिये भक्तकी आंख चाहिये. शीरीको सुंदर देखनेके लिये फरहादकी आंखसे देखना पड़ेगा.

२२. दो प्रकारका कचरा होता है; बुद्धिमें अज्ञानका और हृदयमें रूक्षता अथवा स्वार्थका. अच्छा लगे तो एक कचरेको साफ करना चालू करो, दूसरा भी धीरे-धीरे निकल जायेगा और प्रभुके बिराजने लायक स्वच्छता आयेगी.

२३. सेवा तुम्हारा केवल कर्तव्य ही नहीं है, बल्कि सेवा तुम्हारा सर्वस्व है.

२४. मूर्तिमें सत्त्व शिलाका, लेकिन तत्त्व परमात्माका है. क्योंकि प्रभु स्वयं ही पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश पंचभूत बने हैं.

२५. एक वैष्णवने अपने सेव्य श्रीबालकृष्णलालके साथ श्रीगिरिराजजी

भी पधरा लिये और कहा कि मुझे श्रीगिरिराजजीमें अधिक vibration लगते है. यदि तुम्हारी दृष्टिमें भक्ति करते हुवे भी vibration ही अधिक अच्छी लगती है तो भक्ति करनेकी फिर जरूरत ही क्या है? भक्ति बढ़ानेके बदले मूर्ति नदी पत्थर में vibration अधिक लगता हो तो ऐसी वस्तु ढूंढनी चाहिये अथवा तो एक vibrator ही क्यों नहीं लगवा लेते!

२६. मर्यादामें मूर्ति प्रभुकी प्रतिनिधि है. पुष्टिमें मूर्ति स्वयं ही परमात्मा है. तुम्हारे अन्दर स्नेहका सामर्थ्य है तो जो आनन्द परमात्मा तुमको दे सकता है वही आनन्द, मूर्ति भी दे सकती है.

२७. हम मूर्ति नहीं कहते क्योंकि ऐसा कहनेसे भाव खंडित हो जाता है इसलिये हम स्वरूप कहते हैं.

२८. मर्यादामें मूर्तिको प्रभुका प्रतिनिधि मान कर पूजन होता है अर्थात् रसगुल्ला नहीं मिलते इसलिये चने फांकते हैं. लेकिन पुष्टिमें तो भक्त स्वरूपसेवामें चना नहीं फांकता, रसगुल्ला ही खाता है.

२९. प्रभु बोलते नहीं हैं, उससे भक्त ऐसा नहीं विचारता कि वह मूर्ति है लेकिन वह यह विचारता है कि प्रभु मान कर रहें हैं, रूठे हुवे हैं मैं उन्हें मनाऊं. भले ही दस-बीस वर्ष या जन्म बीत जायें, मैं प्रयत्न नहीं छोडूँगा.

३०. दो व्यक्तियोंमें एक-दूसरेके प्रति जब भाव स्थापित होता है तब लोग तो इतना ही जानते हैं कि हमारा उसके साथ घूमना फिरना है और लोगोंको तुम्हारे हृदयके भावोंको जतानेकी क्या जरूरत है? उसी प्रकार श्रीठाकुरजीका और तुम्हारा सम्बन्ध

कैसा है उसकी लोगोंको खबर पड़ते ही गड़बड़ हो जाती है. आज भी कितने गोस्वामी बालक अपनी बहुजीयोंको परदेमें रखते हैं. किसीकी दृष्टि बहूजीके बारेमें बिगड़े नहीं उस डरसे. अपनी बहूजी जितनी महत्ता भी जो सेव्यप्रभुके बारेमें स्वीकारी हो तो श्रीठाकुरजीका सार्वजनिक मंदिर नहीं हो सकता; जबकि श्रीठाकुरजी भी तो स्त्रीगूढ़भावात्मक ही हैं.

३१. उद्वेगको स्वीकारते हो तो पापका फल मान कर स्वीकार करनेसे हृदयमें ग्लानी उदासीनता और हीनता की भावना होगी. ईश्वरइच्छा माननेसे हृदयमें दीनता आयेगी. ऐसा दीन-हीन व्यक्ति स्नेही नहीं बन सकता, लेकिन उद्वेगको प्रभुलीला समझनेसे हृदयमे भक्तिकी हानि नहीं होगी और ऐसा भक्त ही स्नेहके स्तर पर टिक सकता है.

३२. नाटक देखने जाते हैं तब मन तैयार होता है कि हम कोई लीला देखने जा रहे हैं. नाटक करुण है तो तुम रोओगे, नाटक डरावना है तो तुम भयभीत हो जाओगे, बाबजूद इसके बाहर आ कर उसकी तुम बड़ाई करोगे. नाटकको तुम लीला मानते हो इस कारण वह तुमको रुलाये हंसाये डराये तो भी तुम उसकी प्रशंसा करते हो. उसी प्रकार संसारकी सर्व घटनाओंको प्रभुलीला समझनेसे उसकी करुणता सुंदरता क्रूरता भयानकता अथवा नीरसता सबमें तुम विलास कर सकोगे.

३३. अंधा व्यक्ति न दीखनेके बाबजूद भी बॅटरी रखता है जिससे कि कोई दूसरा व्यक्ति उससे टकरा न जाये. इसी प्रकार अपनी समझमें न आते हुवे भी अष्टाक्षर स्मरणसे कोई विरोधी भाव अथवा आसुरी भाव हृदयसे टकरायेगा नहीं.

३४. ट्रेनमें बैठनेके बाद मैं पहुंचूंगा कि नहीं, ऐसी चिंता करना

मूर्खता है. ट्रेनमें बैठनेके बाद भी तुम निश्चिंत नहीं रह पा रहे हो तो कोई तुम्हारी क्या मदद कर सकता है! इसलिये सेवात्मिका भक्ति अथवा शरणागतिके मार्गपर स्थिर रहनेवाले व्यक्तिको चिंता अनावश्यक होती है.

३५. लौकिक अथवा अलौकिक, दोनों कारणोंके लिये चिंता त्याज्य है. अंगीकृत जीवोंका कार्य प्रभु स्वत: करते हैं, ऐसा विश्वास जरूरी है. कभी-कभी प्रारब्ध भोग या परीक्षार्थ फल देनेमें विलम्ब करते हैं.

३६. प्रभु परीक्षा भी क्रीड़ा भावसे करते हैं; नहीं तो क्या उन्हें खबर नहीं है कि हम कितने पानीमें हैं? जिस प्रकार गुनहगारको सजा देनेमें पुलिस अथवा जज को उसके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं होता लेकिन केवल कानूनके वश हो कर सजा देते हैं, उसी प्रकार हम प्रभुकी सृष्टिमें कर्मोंका फल भोगते हैं लेकिन उस भोगनेकी अवस्थामें उद्विग्न नहीं होना चाहिये. कारण, एक शायर कहता है "मैं खुश हूं ऐ नसीम मुझे कोई गम नहीं. मेरी तबाहियोंमें भी यारोंका हाथ है." कर्मसे बढ़ कर घनिष्ठ अपना मित्र कौन हो सकता है कि जो देह छोड़नेके बाद भी अपना साथ नहीं छोड़ता.

३७. चिंता भगवदर्थ भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि प्रभु जितनी सेवा अपनेसे लेना चाहते हैं उतनी अनुकूलता वह स्वयं कर देंगे और उतना ही भाव प्रदान करेंगे.

देश कालकी परिस्थितिसे क्या प्रभु अनजान हैं? जब चीनीकी राशनिंग हो तब छप्पन भोग आरोगानेकी बात करोगे तो चिंता तो उपस्थित होगी ही. परन्तु हमको ऐसा समझना चाहिये कि जितनी चीनी हमारे पास है, उतनी चीनीकी ही सामग्री प्रभु

मांग रहे हैं. तो विचारना चाहिये कि हम जो सामग्री धर रहे हैं उसकी महिमा कितनी है कि प्रभु उसे हमसे मांग रहे हैं. इसलिये किसी अफसोसके साथ कोई भी सामग्री नहीं धरनी कारण कि चिंतासे भाव रूखा हो जायेगा, हृदयमें कठोरता, क्लिष्टता आयेगी. इनके कारण जो भी करोगे वह सेवा नहीं है परन्तु अपने हठसे की हुई एक क्रिया मात्र है.

३८. अगर सेवामें निरंतर उद्वेग रहता हो, घरमें सदा क्लेश ही रहता हो तो सेवा छोड़ देनी चाहिये. सेवामें जो मन प्रफुल्लित न रहे तो वह सेवा सेवा नहीं है, केवल कर्मकाण्ड है.

३९. महाप्रभुजी ऐसा तो नहीं कहते कि सुख-दु:खकी संवेदनाके प्रति तुम जड़ बन जाओ. परन्तु आज्ञा करते हैं कि दोनों संवेदनाओंको चिंतामुक्त हो कर भोगो.

४०. अगर सेवाके बाद भी कुटुम्बासक्ति रहती है तो भी चिंता नहीं करनी, कारण वह भी प्रभुकी क्रीड़ा है. कदाचित् अगले जन्ममें गुणासक्ति और उसके बाद स्वरूपासक्ति हो, ऐसे क्रमसे आगे बढ़ोगे.

४१. "जब महापुरुष (महाप्रभुजी) द्वारा अपना निवेदन प्रभुके प्रति हुवा है तो वह हमारी लौकिक गति नहीं करेंगे, हम उनके हैं" ऐसे निश्चित विचार रखनेसे उत्साह-धीरज यथास्थित रहता है.

४२. भगवदनुरक्तिके कारण जो विषयमें वैराग्य आये तो वह पुष्टिवैराग्य है और विषयमें वैराग्य होनेसे भगवदनुरक्ति उत्पन्न करें तो वह वैराग्यजनित मर्यादाभक्ति है.

४३. चिंता होती है इसलिये कि जिसे हमने आत्मनिवेदन किया है उसके बलपर भरोसा नहीं है. जैसे कन्यादान किया हो पर जमाईपर भरोसा न हो कि कन्यादानमें दिया हुवा द्रव्य खा तो नहीं जायेगा!

४४. जो वस्तु शास्त्रोक्त हो, लौकिकमें उत्तम हो, अपनेको भी अच्छी लगती हो, वह वस्तु प्रभुको अवश्य अंगीकार करानी. लेकिन इनमेंसे एक भी वस्तुकी कमी हो तो विवेकका प्रयोग करना चाहिये.

४५. प्रभुके काल कर्म और स्वभाव के नियामक होनेके कारण कालादि द्वारा किये गये प्रतिबंधको प्रभुकी इच्छा ही समझना चाहिये. ब्रिटन्के महान तत्त्वचिंतक बर्ट्रेन्ड रसेल्के अनुसार प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति भगवान्पर दो आरोप लगाता है : वह सर्वज्ञ नहीं है और उसकी योजनामें कुछ कमी है. इस बारेमें ध्यान दिलानेपर सुधार लेगा. प्रभु अपनी इच्छासे जो कुछ करते हैं उसमें अगर दु:ख भी मिले तो उसे सहन कर लेना चाहिये, लेकिन प्रभु पर अविश्वास प्रकट नहीं करना चाहिये. दु:ख अनुभव करानेवाले भी प्रभु हैं. इसलिये प्रार्थनाकी आवश्यकता नहीं है.

४६. शिक्षापत्रमें श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि "शुद्धाद्वैतियोंका संग भी कभी बाधक हो सकता है." इसमें श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तका खंडन नहीं है. लेकिन केवल ऐसे विचार जो भक्तिको खंडित करते हो तो वे ही बाधक हैं. उदाहरणके तौरपर भोग धरनेवाला ब्रह्म है भोग आरोगानेवाला ब्रह्म है और धरनेमें आती हुई सामग्री भी ब्रह्म है; ऐसे ज्ञानसे जो भक्तिभाव टूट जाये तो वैसा शुद्धाद्वैत ज्ञान बाधक है.

४७. प्रभु केवल परमेश्वर ही नहीं हैं. परमात्मा भी हैं. केवल आत्मा ही नहीं, ईश्वर भी हैं. इसलिये भक्तिमें प्रेम और दीनता दोनों जरूरी हैं. जिस प्रकार नट रस्सीपर चलते समय बांससे दाएं-बायेंका संतुलन बनाता है; उसी प्रकार भक्तिकी रस्सीपर चलते समय अतिशय स्नेहके वश हो कर उद्धत नहीं बन जाना चाहिये अथवा तो अतिशय दैन्यवश नि:स्नेह भी नहीं बन जाना चाहिये. उसके लिये भजनीय भगवान्को परमेश्वर भी और परमात्मा भी मानना चाहिये.

४८. श्रीद्वारकाधीशजीके घरके एक बालकने काशीमें पंडित होनेकी इच्छासे किसीकी सलाह पर जीभ पर सरस्वतीमंत्र लिखवाया और पीछे घर लौटे. तब श्रीद्वारकाधीशजीकी आज्ञासे उनके पिताश्रीने इकलौते पुत्रका त्याग किया. उस प्रसंगसे ऐसा नहीं समझना कि हरेकको मूर्ख ही रहना, अथवा पंडित होना कोई दोष है, लेकिन इसको ऐसे समझना कि पंडित होना यह ईश्वरका वरदान है और पंडित न होना यह ईश्वरेच्छा है. इसलिये उसके लिये अन्याश्रय नहीं करना. इसमें देखनेकी बात है कि जिस व्यक्तिके अन्याश्रयसे प्रभुको बुरा लगे वह व्यक्ति प्रभुको कितना आत्मीय लगता होगा. जैसे घरवालोंकी गाली और बाहरवालोंकी गाली, दोनों गालीके कारण अपने ऊपर होते प्रभावमें अंतर होता है. वैसे श्रीद्वारकाधीशजीने उसे घरवालोंकी गाली गिना. जब अपना अन्याश्रय प्रभुको बुरा नहीं लगता तो अपना प्रभुके साथ कैसा सम्बन्ध?

४९. षोडशग्रंथका तात्पर्य मात्र एक ही है और वह है सेवा. बहुत बार सेवा छोड़नेका विधान भी भगवत्सेवाके लिये ही होता है. उदाहरणार्थ किसी डॉक्टर्की चिकित्सा अथवा दवाई तुम्हें माफिक नहीं आ रही है और कुछ गलत असर कर रही है तो उसे छोड़नेमें अपना और डॉक्टर् दोनोंका हित है.

५०. अपने समर्पणके साथ परिवारके प्रत्येक सदस्यका भी समर्पण होता है; परन्तु उन लोगोंका खुदका अहंकार भी तो है. इसलिये उसका समर्पण तो उनके खुदके ब्रह्मसम्बन्ध द्वारा ही होगा. पुत्रादि सेवामें उपयोगी न हों तो चिंता नहीं करनी. प्रभुको समर्पित करनेके बाद प्रभुकी इच्छा होगी तब उसका उपयोग करेंगे.

५१. जिस प्रकार किसीको दस पुस्तक पढ़नेके लिये कहा जाय. बादमें कौनसी पुस्तक पढ़नी, कब पढ़नी या नहीं पढ़नी, यह उसकी जबाबदारी है अपनी नहीं और ऐसी दखलअन्दाजी पढ़नेवालेको भी पसंद नहीं आयेगी.

५२. "मैंने ब्रह्मसम्बन्ध पहले लिया है और मैंने सब कुछ समर्पित किया है." ऐसा अहंकार नहीं रखना. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवाला और उसके परिवारजनोंके साथ प्रभुका सम्बन्ध बराबर है. प्रथम ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवालेका अधिक महत्त्व नहीं मानना. बहुत बार ऐसा होता है कि ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद उसके परिवारके किसी अन्य सदस्यमें भाव अधिक दिखाई देता है. तुम्हारे ब्रह्मसम्बन्धके कारण दूसरेको भावदान हो सकता है. लेकिन यह अपवाद है. ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवाले व्यक्तिकी तुलनामें उसके द्वारा समर्पित किये गये कुटुम्बका प्रभुके साथ गौण संबंध नहीं होता; इस कारण ब्रह्मसम्बन्ध लेनेवालेको कभी अभिमान नहीं रखना.

५३. ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके बाद तुम्हारेसे सेवा किस रीतिसे लेनी यह प्रभुकी इच्छा है. बहुत बार स्त्रीपुत्रादिककी ही सेवा लेते हैं. कई बार प्रभु अपनेसे सेवा लेते हैं. कई बार अपने भक्तोंकी सेवा कराते हैं. कुटुम्बकी ही सेवा करनी पड़े तो प्रभुकी इच्छा समझ कर चिंता नहीं करनी लेकिन मनमें बढ़ोत्तरीकी इच्छा

रखनी कि कब प्रभु हमसे ऊंची सेवा करायेंगे.

५४. वैभव ज्ञान अपरस वगैरह उत्तम वस्तु हैं. इन उत्तम वस्तुओंका प्रभुमें विनियोग उत्तम गिननेमें आता है, लेकिन अनिवार्य नहीं. इसलिये वैभव हो तो प्रभुकी सेवा वैभवसे करनी, लेकिन वैभव न हो तो भी सेवा छूटनी नहीं चाहिये. उसी प्रकार ज्ञानी भी सेवा कर सकता है, मूर्ख भी कर सकता है. अपरस बहुत सुंदर वस्तु है. उसका विनियोग भी प्रभु सेवामें करना उत्तम बात है परन्तु पूरी अपरस पलती नहीं है इसलिये सेवा छोड़ देनी यह अयोग्य है. इस प्रकार सेवाकर्ताके धनका वैभव, ज्ञानका वैभव और अपरसका वैभव सबके विनियोग करनेकी छूट है, लेकिन सेवाके लिये यह सब अनिवार्य हैं ऐसी आज्ञा नहीं है.

५५. योगीकी लगती हुई समाधिमें कुछ आश्चर्य नहीं है. शरीरके क्रिया कलापोंको बंद करके समाधि लेना एक क्रियासिद्धि है. ऐसे तो मेंढक इत्यादि भी मिट्टीमें घुस कर समाधि जैसी स्थिति धारण करते हैं; जिसे 'हायबर्नेशन्' कहते हैं. इसलिये मेंढकके दर्शन करने जानेकी जरूरत नहीं है. महत्ता समाधिकी नहीं लेकिन परमात्मविषयक समाधिकी है.

५६. प्राचीन कालमें भिक्षुककी गरिमा थी. वे भिक्षा ले कर देनेवालेपर उपकार करते थे. और भिक्षुकको खाना खिला कर खाना, ऐसा जिनका नियम रहता था वे लोग गांवके बाहर भिक्षुकको ढूँढनेके लिये खड़े रहते थे. अब तो सब कुछ बदल गया है.

५७. जितनी तुमसे सेवा लेनी है उतनी सेवा लेनेमें प्रभु समर्थ हैं.

५८. तुम्हारा भटकनेका स्वभाव है. प्रभुका रोकनेका स्वभाव है.

५९. गुसांईजी विज्ञप्तिमें कहते हैं "यह जीव आपकी तुलनामें कितना छोटा है. वह अगर आपको खुश करनेके लिये कुछ करे तो भी कितना करे! ऐसे जीवकी कृतिकी आप अपेक्षा रखो यह संभव नहीं है".

६०. श्रीमुरलीधरजी महाराजसे पूछा गया कि "अगर सेवामें मन न लगे तो कथा कर सकते हैं?" उन्होंने जबाब दिया "जहां शृंगार सामग्री आदि कितने सारे मन लगानेके उपाय मौजूद हैं उनमें तेरो चित्त नहीं लग्यो तो कथामें कहांते लगेगो?"

६१. श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजसे पूछा गया कि मूर्तिमें तो आह्वाहन करना पड़ता है और शालिग्राममें और श्रीगिरिराजमें तो नित्य सन्निधान है. तो श्रीगिरिराज और शालिग्राम की सेवा ज्यादा अच्छी नहीं? उन्होंने कहा : मूर्ति जिसमें तुम आंख नाक कान आदिका दर्शन कर सकते हो, सुन्दर शृंगार करके उनकी सुन्दरता और उनके भाव देख सकते हो, ऐसी मूर्तिमें तुम्हें क्यों दोष नजर आता है? शालिग्राममें तो ऐसा कोई आनन्द नहीं मिलेगा.

६२. पुष्टिपुरुषोत्तम श्रीयुक्त हैं जो अपनी शोभासे तुम्हें जबरदस्ती अपनी ओर खींच लेते हैं. रत्नाकरका पद है—

न चली कछु लालची लोचनकी हठ मोचनके चहनो ही पर्यो.
रत्नाकर बंक विलोकनी बान सहाय बिना सहनो ही पर्यो.
इतते वे गात छुवाय चले तब तो प्रणको ढहनो ही पर्यो.
भरी आई कराह सुनोजी सुनो नंदलालसों यह कहनो ही पर्यो.

प्रभु जब कृपा करते हैं तो पहल वह ही करते हैं. तब उनको

चाहना तुम्हारे बसकी बात नहीं रह जाती. ये तुम्हारे तन-मनको जबरदस्ती छीन कर तुमको असहाय कर देते हैं. इस कारण ही रत्नाकर कहता है : "न चली कछु लालची लोचनकी हठ मोचनके चहनो ही पर्यो".

६३. जिससे प्रभुको सुख दिया जा सके वह सेवा. न कि अपने अहंकार पोषण अथवा अपनी कर्तव्य भावनापोषणके लिये की गई सेवा. सेवामें आत्मविकासके बदले प्रभुसुखका ध्येय होना चाहिये. वार्ता प्रसंगमें आता है कि गुसांईजीका सेवक बहुत नाम-जप करता था तो भी आप उससे बोलते नहीं थे. लेकिन जब उसने एक बार श्रीगिरिराजजीके रास्तेमें कांकर-पत्थर साफ किये ऐसी भावनासे कि श्रीठाकुरजीके चरणमें चुभे नहीं तब ही गुसांईजी उससे चल कर बोले. कारण पूछने पर बताया कि आज-तक तेरा आत्मविकासकी ओर ध्यान था. आज प्रभु सुखका विचार किया.

जब घरमें आग लगे तब तुम तुम्हारे बालकको भूल कर अपने आप बचने दौड़ते हो. इसमें तुम अपने आपको बचा रहे हो. बादमें फिर बच्चेके लिये रोओ मत. परन्तु आग लगे तब जो तुम अपने बचनेकी परवाह किये बिना बालकको बचानेका प्रयत्न करते हो तो इसमें प्रेमकी प्रधानता है. उसी प्रकार संसारकी अग्निमें तुमको आत्मोद्धारकी चिंता हो तो तुम प्रभुको भूल जाओगे. और प्रभुको मिलना हो तो आत्मोद्धारकी चिंताको मुल्तवी करो. क्योंकि महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि "तुम्हारा उद्धार संसारसे छूटनेमें नहीं लेकिन भक्तिमें है." हो सकता है कि भक्तिसे तुम्हारा आत्मोद्धार न भी हो. आत्मोद्धार अर्थात् संसारमें अहंता-ममतासे मुक्ति. प्रभुके साथ प्रेमका भक्तिका संबंध बांधना चाहते हो तो मुख्यता प्रभुसुखकी, प्रभुप्रेमकी होनी चाहिये, आत्मोद्धारकी नहीं.

६४. माहात्म्यज्ञानके साथ स्नेह वह ही भक्ति है. माहात्म्यज्ञान बगैर भक्ति वह स्नेह है.

६५. भक्तिमें जीव ट्रस्टी होता है. प्रभु लाभ लेनेवाले हैं. पुष्टिमें प्रभु ट्रस्टी हैं और जीव लाभ लेनेवाला. ऐसी होती है पुष्टिभक्ति!! ट्रस्टी हिसाब-किताब रखता है. लाभ नहीं लेता, नहीं तो विश्वासघात कहलाता है.

६६. गुसांईजीने एक खाने-पीनेके शौकीन व्यक्तिको ब्रह्मसम्बन्ध दिया लेकिन दूसरे एक व्यक्तिको, जिसको तीव्र वैराग्य था उसको ब्रह्मसम्बन्ध नहीं दिया. तात्पर्य यह है कि लौकिक रसको अलौकिक रसमें बदला जा सकता है. परन्तु रस हीन रूखे व्यक्तिको अलौकिक रसमें डुबा नहीं सकते.

६७. पहले क्रोध आनेपर छू जाते थे. लेकिन अब कौन विचार करता है. क्योंकि सेवामें प्रभुसुखका विचार नहीं है लेकिन कर्तव्यका ही विचार है.

सेवामें भी भावनाका फरक पड़ता है. (१)प्रभुसुखमें अपना सुख मानना. (२)अपनेको सुख मिलता है इसलिये सेवा करनी. उदाहरणार्थ (क)दानवीर कहलानेके लिये दान करना. सुख लेनेके लिये सुख देनेकी प्रवृत्ति. (ख)किसीको सुख मिले इसलिये दान करना, दूसरेके सुखमें सुख लेनेकी वृत्ति.

६८. कुछ स्नेहजनित चिंताएं ऐसी होती हैं कि जो हटाई नहीं जा सकती. क्योंकि दिल आखिरमें दिल ही तो है. वह संवेदनशील तंतुओंसे बना है ईंट-पत्थरसे नहीं. हृदय थोड़ा दुःखित हो तो कोई दिक्कत नहीं लेकिन फुन्सीको खुजला कर फोड़ा तो नहीं बना लेना चाहिये.

६९. चैतन्य सम्प्रदायके श्रीरूपगोस्वामीका एक सुंदर लेख इस प्रकार है : "ज्ञान-वैराग्यकी कोई उपयोगिता है तो वह केवल इतनी ही कि तुमको भक्तिकी तरफ प्रेरित करते हैं. वह भक्तिमार्ग पर चला नहीं सकते. ज्ञान-वैराग्य सिग्नल् जैसे हैं चक्के जैसे नहीं और उनकी जरूरत केवल शुरुआतमें है. वह भक्तिके अंग नहीं बन सकते."

७०. जितना ज्ञान-वैराग्य अधिक उतना ही अधिक चित्त कठोर बनेगा. जिस प्रकार स्नेही अथवा आत्मीय की मृत्युका दुःख निवारण करनेके लिये मनको ज्ञानकी बाते समझानी पड़ती हैं कि हरेक व्यक्तिको मरना ही है. यह संसार मिथ्या है, असार है. ऐसे विचारोंसे आर्द्र मन कठिन हो जायेगा और दुःख सह सकेगा.

७१. कठोर व्यक्तिसे भक्ति नहीं हो सकती. भक्ति एक सुकुमार पुष्प जैसी है. इसे कोमलतासे पकड़ना होगा नहीं तो इसकी पंखुडी झड़ जायेगी. इस कारण ही ज्ञान-वैराग्यसे कठोर बना हुवा चित्त, भक्ति नहीं कर सकता. ज्ञान-वैराग्य तो आध्यात्मिक-आधिदैविक उपवनके मार्ग पर लगे दिशाचिन्ह हैं. उनसे चिपके नहीं रहना. आगे बढ़ कर सुरम्य उपवन तक पहुंच जाना चाहिये.

७२. भक्त ज्ञान प्राप्त करके भी अज्ञान साथमें रखता है. "प्रभुको सुलाने-खिलानेकी क्या आवश्यकता है?" वगैरह ज्ञान भक्तिमें काम नहीं आते. स्नेह प्राप्त करनेके लिये कहीं तो माहात्म्यज्ञानको भूलना पड़ेगा.

७३. कभी तो प्रभु चित्तमें आनन्द पैदा करके लीला करते हैं. कभी उद्वेग पैदा करके लीला करते हैं. उद्वेगको प्रभुलीला मानोगे तो

प्रभुके गुणमें आदर होगा और भक्ति प्रकट होगी. लेकिन उद्वेगमें ''यह सब मिथ्या है'' ऐसा मानने पर ज्ञान प्रकट होगा, भक्ति प्रकट नहीं होगी. अर्थात् लीला मान कर चिंताके ऊपर काबू पाना, माया मान कर नहीं, तो ही भाव टिकेगा.

७४. नवरत्नमें चिंता दूर करनेके लिये अनेक उपाय बताये गयें हैं. कुछ चिंता, प्रभु सर्वेश्वर हैं ऐसा माननेसे, कोई चिंता प्रभु सर्वात्मा हैं ऐसा माननेसे, कोई चिंता प्रभु लीला समझनेसे और कुछ चिंता ब्रह्मसम्बन्ध किया है अब क्या चिंता? ऐसा विचारनेसे दूर होती हैं.

७५. सेवा ब्रह्मसम्बन्धदाता और सेव्यस्वरूपदाता गुरुसे पूछ कर ही करनी चाहिये. अलग-अलग वल्लभकुलके बालकोंसे पूछ कर करनेसे और अलग-अलग भगवदियोंके मतोंको इकट्ठा करने पर तो बहुत गड़बड़ हो जाती है पर आधुनिक ब्रह्मसंबंधदाता या सेव्यस्वरूपदाता की सेवाप्रवणता बढ़ाती हो तो शिरोधार्य करनी और घटाती हो तो श्रेष्ठ तो महाप्रभुजीके ग्रन्थोंमें दी गई आज्ञायें ही प्रामाणिक होती है.

७६. अपनी सेवाका प्रदर्शन दूसरे अभगवदियोंको कराना नहीं. प्रभुको तुम कैसा लाड लडाते हो यह दुनियाको दिखानेकी जरूरत नहीं है. बारात गांवकी गलियोंमें फिरे तो कोई बात नहीं लेकिन वर-वधू गांवकी गलियोंमें फिरते-फिरते प्रणय प्रसंग करें तो वह प्रणयका भौंडा प्रदर्शन है.

।। भक्तिवर्धिनी ।।

१. श्रीहरिरायजी कहते हैं कि भक्तके हृदयमें रहा हुआ भाव/भगवत्प्रेम भगवद्रूप है. इसलिये प्रभु स्थायी भावात्मक हैं और स्थायीभाव रसात्मक होनेके कारण अपने आधारपात्र अर्थात् हृदयके बाहर रह नहीं सकता. आप आगे कहते हैं कि हृदयका भाव ये लोकवेदातीत पुरुषोत्तम है जबकि हृदयके बाहर रहा हुआ भगवत्स्वरूप लोकवेदप्रसिद्ध पुरुषोत्तम है. इसमें जानने योग्य यह है कि आलम्बन विभाव और स्थायी भाव, इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन? वह कहा नहीं जा सकता. कारण, कौन किसे महत्ता देता है उस पर न्यूनाधिकपनेका आधार रहता है. वास्तवमें बाहर रहा हुआ आलम्बन विभाव (उदाहरणके लिये बिजलीका बल्ब) ही हृदयमें स्थायी भाव (उदाहरणके लिये बल्बसे मिलता प्रकाश)के रूपमें प्रगट होता है, इसलिये दोनों अभिन्न हैं.

२. कमरेमें अंधेरा हो तब उसमें रहा हुआ आसन पुस्तक सोफा इत्यादि एकका भी रंग नहीं दिखता है. परंतु बत्ती जलाने पर प्रत्येक वस्तुका अलग-अलग रंग दिखने लगता है. इस रंग दिखनेका कारण प्रकाश और उस वस्तुके खुदके रंग, इन दोनोंका संयोजन है. प्रभु सबको सुंदर क्यों नहीं लगते? केवल वस्तुके स्वभावसे महानता नहीं आती अथवा केवल हृदयकी भावनासे महानता नहीं आती, लेकिन दोनोंके संयोजनके कारण महानता आती है.

३. भक्ति केवल मनोवृत्ति नहीं है; लेकिन भक्ति एक स्वतंत्र रस है. मनोवृत्ति स्थायी अथवा अस्थायी भी हो सकती है, रस नहीं. क्योंकि स्थायी मनोवृत्ति ही रस है. कारण ज्ञान अथवा मुक्ति मिलनेके बाद भक्ति संचारी बन जाती है.
जो नाट्यकार भक्तिको केवल मनोभाव मानते हैं उसका कारण

ये है कि उनका भक्तिरसके साथ स्नान-सूतकका भी संबंध नहीं है. चैतन्यसम्प्रदाय, अपना सम्प्रदाय और शांकरमतके मधुसूदनसरस्वती वगैरह भक्तिको 'स्वतन्त्र रस' मानते हैं.

४. जिस तरह रस प्रगट होता है अथवा जिस आलम्बन, उद्दीपन अथवा संचारी भावसे रस प्रकट होता है; उसी क्षण वह शृंगाररस हास्यरस अथवा करुणरस की झलक दिखायेगा पर आखिरमें तो वह आनन्द, आनन्द ही है. ब्रह्मानंद न तो शृंगार, न तो हास्य या न तो करुण रस ही है; पर जब वह लोकमें क्षुद्र अंशरूपमें प्रकट होता है तब वह शृंगार वीर हास्य वगैरहका रंग लिये हुये होता है. आखिरमें तो वह एक आनन्द अथवा रस ही है.

५. **गुप्तानंदाः यतो जीवाः निरानंदं जगद् यतः।**
पूर्णानंदो हरिः तस्मात् जीवैः सेव्यः सर्वे सुखार्थिभिः॥

यह सृष्टि जिस रीतिसे प्रकट हुई है उस रीतिसे जीवमें आनन्द कुछ अंशमें गुप्त है. जबकि जगत्में आनंद पूरी तरह छिप गया है. परन्तु हरि तो पूर्णानंद हैं. इसलिये जिसे सुख चाहिये उसके लिये हरि ही सेवनीय हैं. आनन्दकी अनुभूति जड़में नहीं होती क्योंकि जड़में चेतन तिरोहित है. इसलिये चेतनके भीतर रहा हुआ आनंद तो प्रकट रीतिके साथ ही तिरोहित हुआ है पर जीवमें आनन्द स्वरूपतः तिरोहित है, धर्मतः नहीं.

६. महाप्रभुजी कहते हैं कि "जिस तरह लकड़ीमें अग्नि तिरोहित है उसी भांति जीवमें आनंद तिरोहित है. जब बाहर स्थित अग्नि लकड़ीके सम्पर्कमें आती है तब अन्तःस्थित अग्नि प्रज्वलित होती है, बादमें सब लकड़ी अग्निमय हो जाती है. (पत्थरमें

अग्नि तिरोहित न होनेके कारण अग्नि उसे जला नहीं सकती) भीतर स्थित अग्नि ही बाहर आती है और लकड़ीको जलाती है. परन्तु किस रूपमें? स्थायीभावके रूपमें. उसी भांति आलम्बनविभावरूप श्रीकृष्ण जब जीवके सम्पर्कमें आते हैं तब जीवोंका गुप्तानंद प्रकट होता है और जीवको आनंदमय बनाता है. लकड़ी सुलगनेके बाद लकड़ी नहीं कहलाती, अग्नि ही कहलाती है. उसी प्रकार जीवका गुप्तानंद जब प्रकट होता है तब वह केवल जीव नहीं रह जाता लेकिन आनंदरूप भी बन जाता है.

७. 'किरातार्जुनीयम्' काव्यमें भीमने युधिष्ठरसे कहा कि तुम भीगी लकड़ी जैसे हो इसलिये दुष्ट दुर्योधन तुम्हारे ऊपर पैर रखता है लेकिन तुम अपने अंदरकी क्षात्र अग्नि पैदा करो और फिर देखो कौन तुम्हारे ऊपर पैर धरता है? उसी प्रकार माया अथवा संसार का पैर तुम्हारी आत्मा पर कब-तक? जब-तक तुम्हारी आत्मामें आनंदाग्नि प्रज्वलित नहीं हुई तब-तक. सुलगती लकड़ी पर कौन पैर रख सकता है?

८. एक जीवात्मा रूपी लकड़ी भगवद्भावकी आनंदाग्निसे सुलगती हो तब-तक उसे 'स्थायी भाव' कहेंगे पर जब लकड़ीके परिणामस्वरूप आसपास सब कुछ जलने लगे तत्पश्चात् उसे सर्वात्मभाव कहेंगे.

९. लौकिक-अलौकिक दोंनोंमें अंतर ये है कि लौकिकमें कोई वस्तु स्थायी नहीं होती. लौकिकमें आलम्बनविभाव और स्थायीभाव एक नहीं हो सकते. लौकिकमें आलम्बनविभाव हृदयके भीतर नहीं जा सकता परन्तु अलौकिकमें आलम्बनविभावरूप प्रभु हृदयके भीतर भक्तिके रूपमें प्रविष्ट हो सकते हैं.

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार.

जब जरा गर्दन झुकाई देख ली.

लौकिकमें जब कहते हैं कि मैंने किसीको देखा और उसकी तस्वीर मेरे हृदयमें समा गई तो लौकिकमें यारकी तस्वीर हृदयमें आ सकती है परन्तु यार खुद नहीं आ सकता. परन्तु प्रभु तो हृदयमें साक्षात् प्रकट होते हैं. कारण धर्म और धर्मी दोंनों रूप आप ही हैं, प्रकाश और सूर्य की तरह. स्नेह, प्रकाश स्थानीय है और प्रभु, सूर्य स्थानीय हैं.

१०. भीतरका भक्ति रसात्मक स्थायीभाव हृदयके सामर्थ्यसे प्रकट नहीं होता परन्तु प्रभु द्वारा प्रकट होता है. ब्रह्मानंद स्वतः सिद्ध नहीं होता, लेकिन अंदर आ रहा है, और आनेका कारण? हृदयकी पात्रता. हृदयकी रस झेलनेकी पात्रताके कारण आता है लेकिन हृदयकी सामर्थ्यके आधार पर रस प्रकट नहीं होता.

११. हृदय एक दीपक है. बीजभाव उसमें रहा हुआ तेल है. ज्योति यह स्थायीभाव है. उद्दीपन यह बाहरकी कोई ज्वाला है. उद्दीपन आलम्बन ये बाहरके दीपक हैं. दीपक ही दीपकको जलाता है. जलता तो तेल है बत्ती नहीं, बत्ती तो एक इशारा है. बीजभाव ही दीपशिखा बनता है.

१२. जैसे तेल अधिक होता है तो ज्योति अधिक प्रज्वलित होती है. वैसे ही जितना अनुग्रह अधिक उतनी ही अधिक भक्ति होती है.

१३. अपने भीतर ज्योति जलानेवाली जो बाहरकी ज्वाला है वे बहुत सी हो सकती हैं. प्रभुकी अपरोक्षलीला, प्रभुका स्वरूप, प्रभुके गुण, शास्त्र, गुरु, भगवदीयका संग, संसारप्रति अनासक्ति, इनमेंसे किसी भी वस्तुकी मददसे भीतरकी ज्वाला प्रकट हो सकती है.

१४. बहुत बार लौकिकासक्ति दूर होनेसे भगवान्‌में अनन्यासक्ति प्रकट हो जाती है. नंददासजी रसखानजी बिल्वमंगल इसके उदाहरण हैं. ये पात्र तैयार थे रस झेलनेके लिये, जो कुछ दूरी थी वह अन्यासक्तिके कारण ही थी.

१५. प्रभु अग्नि हैं, उनकी उष्णता अनुग्रह है. प्रभु जितने समीप आते जाते हैं अथवा जीव जितना प्रभुके निकट आता जाता है उतनी ही उनकी उष्णता अधिक अनुभवमें आती है और आखिरमें उष्णता इतनी बढ़ जाती है कि जीव प्रेमाग्निसे सुलग उठता है.

१६. हृदय एक पात्र है. उसमें अनुग्रहकी वर्षा हो रही है. बरसती है तब-तक अनुग्रह है परन्तु नदी या तालाब रूपी पात्रमें जब छलकती और बहती है तब भक्ति बन जाती है.

१७. विप्रयोग स्थायीभाव प्रकट होनेसे पहले भी प्रकट हो सकता है और बादमें भी. विप्रयोग स्नेहका थर्मामीटर् है. वह साधना नहीं लेकिन सिद्धि है. विप्रयोग होता हो यह बहुत ऊंची अवस्था है. लेकिन यह ताप-क्लेशका मार्ग है इसलिये मुँहको रुआंसा करके घूमनेकी जरूरत नहीं है. विप्रयोग किया नहीं जाता, हो जाता है.

१८. सच्चे भक्तको सेव्यकी चिंता होनी चाहिये, स्नेहकी नहीं. स्नेहकी चिंता बताती है कि भक्तके मनमें कुछ इच्छायें हैं, व्यापारिक बुद्धि है.

१९. श्रीठाकुरजीकी सेवा छोड़ कर बहुत लोग विप्रयोग करते हैं. यह विप्रयोग नहीं है. एक तो पतिको धक्का मार कर बाहर

निकाल दो, पीछेसे कहो कि मैं तुम्हारे लिये विप्रयोग करूंगी. यह स्नेह नहीं, स्नेहका दिखावा है.

२०. बहुत लोग कहते हैं कि प्रभुकृपा प्राप्त करनेके लिये की जाती भक्ति पुष्टिभक्ति है, परन्तु यह गलत बात है. 'पुष्टिभक्ति' अर्थात् प्रभुकृपासे प्राप्त होती भक्ति.

२१. विप्रयोग केवल अनुभूति नहीं है अथवा केवल वस्तुस्थिति भी नहीं है. व्युच्चरणके बाद जो दूरी हुई है उसे दूरी मानें तो ही विप्रयोग होगा. ज्ञानी बन जाओ तो वह दूरी भी दूरी रह नहीं जाती.

२२. दूरी अनुभव होनेका कारण फासला नहीं है परन्तु तुम्हें किसी स्थान पर कितनी जल्दी अथवा देर में पहुँचना है, उसके ऊपर आधारित है. पहुँचनेकी जैसे गति बढ़ती है वैसे अंतर ज्यादा लगता है. कहीं जल्दी पहुँचनेकी कोई उतावली नहीं होती तो दूरी भी दूरी नहीं लगती क्योंकि मनका भाव ठंडा पड़ जाता है.

२३. ताप सह्य है परन्तु क्लेश असह्य है. उसमें परेशानीका भाव है. ताप-क्लेशके कारण जब प्रभुमें तन्मयता हो जाय तब तो तन्मयताके कारण उसमें आनन्दकी अनुभूति होती है. तन्मयताके अभावमें ताप-क्लेश दुःखात्मक लगते हैं.

२४. प्रभुके विप्रयोगमें दो प्रकारकी अनुभूति होती है. बाहोश (अतन्मय) हो तब दुःखात्मक अनुभूति होती है और बेहोश (तन्मय) हो तब सुखात्मक अनुभूति होती है. ताप-क्लेश पहले होता है और साधन दशामें होता है और आनन्द फलदशामें होता है.

२५. भक्तिशास्त्र, दर्शनशास्त्र और रसशास्त्र के बीचमें अवस्थित है. वह दोनोंके सम्मिश्रणसे खिलता है. भक्तिशास्त्र जीवनमें परमात्माकी रसात्मक प्रतिष्ठा करता है. इसीलिये कीर्तनमें कहा है कि "जो पै श्रीवल्लभ प्रकट न होते, भूतल भूषण विष्णुस्वामीपथ शृंगारशास्त्र सब रोते". ऋषियोंने कोई ऐसी बात करी ही नहीं है कि जिसकी कोई अहं(महत्त्वपूर्ण)(उद्दात्त) भूमिका न हो.

२६. भक्तिके लिये घर छोड़नेकी छूट है, आज्ञा नहीं. जिस मरीजको थोड़ी बीमारी है, उसको डॉक्टर् सलाह देता है कि अमुक परहेज रखोगे तो दवाके बगैर भी ठीक हो जाओगे (दवा न लेनेकी छूट है), जबकि अधिक बीमारीके मरीजको डॉक्टर् दवा लेनेकी सलाह देता है. उसी प्रकार दृढ़ बीजभाववाला घर छोड़ता है और श्रवण-कीर्तन करता है तो भी भक्ति बढ़ेगी. अदृढ़ बीजभाववालेके लिये श्रवण-कीर्तन ही पर्याप्त नहीं है, उसकी कोमल पंखुड़ियोंकी रक्षाके लिये घर रूपी बाड़ जरूरी है.

२७. सानिध्यसुख और तत्सुख में क्या अन्तर है? महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि "प्रारम्भमें भोग्य बन कर चलो, भोक्ता पीछे बनना. तुम्हारे भोक्तृभावको भक्तिकी आड़में छुपा कर प्रभुको भेंट कर दो. इस भेंटको प्रभु ही खोलें उसमें ही उसका मजा है, उसकी और तुम्हारी गरिमा है." उदाहरणके लिये बहुत सारे लोग विवाहमें अपनी गिफ्ट खुद खोल कर उसके साथ फोटो भी खिंचाते हैं. इसमें विवाहित दम्पतिके प्रति तत्सुखका भाव नहीं है परन्तु अपने अहंकी पुष्टिका भाव है.

२८. अपना आलम्बनविभाव प्रभु हैं, सेवा नहीं. भक्ति सेवात्मिका हो तब आलम्बनविभाव प्रभुका सेव्यस्वरूप है; और भक्ति जब कथात्मिका हो तब प्रभुका श्राव्यस्वरूप आलम्बनविभाव बनता है.

२९. सेवाको जो आलम्बनविभाव बनाया जाय तो सेवा एक कर्मकाण्ड या कर्तव्य बन जायेगी, चाहे भक्ति हो या न हो. हम सेवाके भक्त नहीं हैं परन्तु सेव्यके भक्त हैं. सेवा और उसकी विधिका जिनको अत्याग्रह है उन्होंने सेवाकी कीमत मानी है सेव्यकी नहीं. "दिल है कदमोंपे किसीके सर झुका हो या न हो. बंदगी है अपनी फितरत अब खुदा हो या न हो."

३०. बहुतसे लोग कहते हैं कि सेवा भक्ति अपना कर्तव्य है इसलिये करनी चाहिये. लेकिन यह तो प्रभुके प्रति क्रूरता है. यह तो ऐसा है कि पत्नी पतिको कहे कि मुझे तुम्हारे साथ स्नेह नहीं है और न है साथ रहनेकी इच्छा, केवल आदर्श वैवाहिक संस्थाके रक्षणके लिये तुम्हारे साथ विवाह कर रही हूँ. अथवा तो पंचयज्ञोंमेंसे एक यज्ञ पशु-पंछियोंको दाना देना ये है और उस कर्तव्यको निभानेके लिये पक्षीको पिंजरेमें रखो, ऐसा है. तुम्हारा कर्तव्य ये तुम्हारा सिरदर्द है. उसके लिये प्रभुको तुम्हारे साथ रहना? किसके लिये फर्ज निभा रहे हो?

३१. आम सभामें सुननेवाले लोगोंको विषयके बजाय वक्ता और उसकी वक्तृत्व शक्तिमें अधिक अभिरुचि होती है. वक्ता विद्वान हो लेकिन उसमें मसालेदार बोलनेकी शक्ति न हो तो उसके पास सिद्धान्त समझनेके लिय जानेवाले लोग थोड़े होते हैं.

३२. श्रवण और कीर्तन दोनों जुड़वा हैं. सुननेकी आदत हो लेकिन उसमें कीर्तन करनेकी वृत्ति न जगे तो कुछ न कुछ गड़बड़ है. और कीर्तन करनेवालेको सुननेकी अपेक्षा न हो तो उसकी अहंता-ममता कहीं न कहीं छल कर रही है. (कुछ लोगोंको सुननेकी वृत्ति होनेके कारण विषयका आग्रह नहीं होता). अहंता-ममताको सन्डासीमें (पकड़में) पकड़नेके लिये श्रवण-कीर्तनका जोड़ा है (कीर्तन

अर्थात् राग-रागिनी गाना नहीं लेकिन उसमें रहा हुआ भाव अंदर भी लेना और बाहर भी निकालना).

३३. जहां रमण हो, मन रम जाये, वह 'रति'.

३४. षोडश ग्रन्थोंमें सब बातें आधुनिकोंके लिये ही हैं. क्योंकि वह उपदेशात्मक हैं. लेकिन सुबोधिनीमें वैसा नहीं है. कारण बहुतसे वचन व्याख्या मुद्रामें हैं. षोडश ग्रंथोंमें पढ़नेवालेको पकड़ना है, सुबोधिनीमें केवल दिखाया गया है कि लेनेका अधिकार हो तो लो, नहीं तो छोड़ दो.

३५. मार्गमें निन्यानवे प्रतिशत लोगोंके मनमें यह भाव है कि मार्गका प्रचार होना चाहिये. सम्प्रदायके प्रचारके लिये मंदिर बनाना, यह तो तुम श्रीठाकुरजीको प्रचारका माध्यम बना रहे हो, जो श्रीठाकुरजी जगन्नियन्ता हैं. मार्ग श्रीठाकुरजीके लिये है, श्रीठाकुरजी मार्गके लिये नहीं. मार्ग रहा भी तो क्या और न भी रहा तो क्या? आज-तक अनेक मार्ग लुप्त हो गये हैं. मालिकसे घरका काम करवा कर, मालिककी नौकरी करना जैसी मूर्खता इसका नाम है. स्वमार्गका प्रचार स्वमार्गीय बीजभाववाले जीवोंके लिये होना चाहिये. और वह सेवा और सेव्य के खुले प्रदर्शनसे नहीं, लेकिन सिद्धान्तके उपदेशसे, सत्संगसे अथवा दूसरी तरह कहा जाये तो भगवत्कृपा लब्ध अपने पुरुषार्थसे ही. भगवत्स्वरूपका, मनोरथोंका, भक्तिके प्रदर्शन रूपी भोंडे तमाशे द्वारा नहीं.

३६. स्वतंत्र पुरुषार्थके रूपमें ही भक्ति होनी चाहिये. ऐसी भक्तिका आनंद ही ऐसा है कि उसको जाननेवाला पुरुषार्थोंको ठुकरा देता है. मनोरथियोंके लड्डूके लिये अथवा प्रतिष्ठाकी कामनाके लिये, मुखिया भीतरिया पैसाके लिये, महाराज कदाचित् सम्प्रदायके

प्रचारके लिये भी भक्ति करते हों तो ऐसी भक्तिमें आनन्द नहीं आ सकता.

३७. जो योग्य गुरु नहीं मिले तो महाप्रभुजीमें गुरुबुद्धि रखनी. डाकघर द्वारा पत्र या मनीऑर्डर् भेजते हैं तब डाकियेके भरोसे नहीं भेजते, परन्तु डाकघर एक संस्था है, इस कारणसे उसे देते हैं.

३८. पुष्ट करवानेका अर्थ क्या? पुष्ट करनेसे उसमें भगवान् घुस नहीं जाते हैं. वह भगवान् तो सर्वत्र हैं ही, परन्तु पुष्ट करवानेका अर्थ श्रीआचार्यचरणको अभिप्रेत भावात्मकताके अनुसंधानके साथ प्रभुमें सेव्यभावना करनी.

३९. सेवामें आत्मकेन्द्रितता नहीं है, सेव्यकेन्द्रितता है.

४०. शास्त्रमें कहा है कि देवताओंको उनका हिस्सा या कर देनेके बाद उनके साथ भावात्मक सम्बन्ध बाँधनेकी जरूरत नहीं है. देवताओंके साथ लेन-देनका ही सम्बन्ध होता है. जैसे व्यापारिक सम्बन्धोंमें कामकी बात हो जानेके बाद कोई भी कारणके बिना गपशप नहीं करता.

४१. सेवा मार्गमें करे हुये कर्मोंको प्रभु ध्यानमें नहीं रखते, लेकिन कर्म करनेके हेतु हृदयमें रहे हुये भावोंको ग्रहण करते हैं.

४२. श्रीमद्भागवतमें श्रीठाकुरजीके शृंगारका वर्णन "**बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं...**" इस श्लोकमें है लेकिन उसके अनुसार हम कहाँ शृंगार धराते हैं? श्रीठाकुरजी कम्बल ओढते थे परन्तु हम वह नहीं धराते हैं, क्योंकि हमने महाप्रभुजीके द्वारा निर्दिष्ट

गृहसेवाका प्रकार अपनाया है. गौचारण लीलाका भी सेवामें वर्णन नहीं आया. सेवाका सम्पूर्ण प्रकार श्रीमद्भागवतके अनुसार नहीं गढ़ा जा सकता.

४३. मनोरथमें सजावट करनेमें कितने घंटे लगते हैं, लेकिन श्रीठाकुरजी उसमें आधा घंटा ही बिराजते हैं. इसमें कितनी मेहनतके बदलेमें कितना लाभ मिला, ऐसे जमा-खर्चकी गिनती करें तो सेवाका भाव खंडित हो जायेगा. मेहमान आना हो उसके लिये भोजनकी तैयारी सुबहसे करते हैं और वह आधे घंटेमें ही भोजन कर लेता है. एवरेस्ट् चढ़नेमें कितने दिन लगते हैं; लेकिन वहां पहुंचने पर झंडा रोपनेका काम तो दस मिनिटमें ही हो जाता है. इसके पीछे समय मेहनत और पैसे की गिनती करोगे तो तुम घाटेमें ही हो. परन्तु ऐसे मनोरथके पीछे कीमत है तुम्हारे भावकी, तुम्हारे उत्साहकी. समय बहुत कीमती है. उसे बर्बाद मत करो. समयके क्षणोंको व्यापारिक दृष्टिसे देखना कितनी मेहनत, कितना लाभ इसकी गिनती करना ये सुविचार पश्चिमकी देन हैं, इसमें मजा कितना आया इसका विचार नहीं. ताश खेलना, घूमना, सिनेमा, नाटक आदि मजेके हरेक काममें समय तो बर्बाद करना ही पड़ता है. सेवामें भी इस दृष्टिसे समय बर्बाद करना ही पड़ेगा.

४४. जो सेवामें भाग लेनेका अधिकार नहीं हो तो सेवामेंसे अपनेको विसर्जित हो जाना चाहिये. भोग धरनेके बाद टेरा देकर हम विसर्जित हो जाते हैं. शयन पश्चात् पंखे आदिकी सेवा करने अपन् नहीं बैठते इसलिये पंखा मात्र ही धरनेमें आता है.

४५. जब महाप्रभुजी स्वरूप पधराते थे, तब कहते थे कि "मैं तोकूँ अपनो सर्वस्व पधराय देत हूँ" लेकिन ऐसा नहीं कहते

थे कि "मैं श्रीगोपीजनवल्लभ या श्रीयशोदोत्संगलालित पधरा रहा हूं." इसलिये जो भाव श्रीआचार्यचरणने सेव्यके बारेमें बताया है वैसे सेव्यके हम सेवक हैं.

४६. सेवा करनेवाले व्यक्तिकी मृत्युके बाद उसके परिवारके सदस्य सेवा चालू रखना चाहें तो उन्हें (श्रीठाकुरजी) पुष्ट करवानेकी जरूरत नहीं है, परन्तु मात्र गुरुकी आज्ञा लेनेकी जरूरत है. और आज्ञा शब्दसे भड़कनेकी जरूरत नहीं है. यह तो सामान्य विवेक है. कीर्तनियां वसन्त ऋतुमें पहले वसन्त बहार गानेकी बालकके पास आज्ञा मांगता है. वर्षाऋतुके प्रारम्भमें मल्हार गानेकी आज्ञा लेता है. पंगतमें पहले भोजन कर रहे हों तो उठनेके लिये बराबरवालेसे आज्ञा लेते हैं. शत्रु लड़नेसे पहले शत्रुसे आज्ञा लेता है. आज-कल छोटी-छोटी बातोंके लिये आज्ञा लेना विवेक नहीं परन्तु परतन्त्रता लगती है. कारण चारों तरफ स्वछंदताकी हवा फैली हुई है.

४७. "**अनुग्रहस्तु रुच्या अनुमेयः**" अनुग्रह जो भक्तिका बीज है, उसका अनुमान कैसे लगे? रुचि उस अनुग्रहको मापनेका थर्मामीटर है. (जो रुचि बगैर सेवा कर रहे हो, बड़ोंके डरसे, देखा-देखीसे, वृत्त्यर्थ, इच्छा पूर्तिके लिये) तो वह सेवा तुम्हारे नाशका हेतु बनेगी.

४८. प्राचीन कालमें महाप्रभुजी जब सेवकको स्वरूपसेवा पधराते थे तब दोनोंमें कृतज्ञताका भाव रहता था. आज सम्प्रदाय मात्र सिद्धान्तों पर ही टिक रहा है. बालक या वैष्णव किसीमें भी कृतज्ञताका भाव नहीं है. पहले जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है. सम्बन्धकी गरिमा नहीं है. इसीलिये आचार्यश्रीके भावसे ही स्वरूप पधराया जाता है और गुरुभाव आचार्यश्रीमें ही स्थापित किया

जाता है.

४९. भक्तिशास्त्रकी दृष्टि अनुसार मुक्ति एनेस्थेसिया जैसी है. उसमें दु:खकी अनुभूति निवृत्त होती है. प्रलयमें प्रभु मुक्त करते हैं और लय द्वारा अपन् मुक्त होते हैं. सृष्टि तो यथावत् ऐसे ही रहती है.

कृष्ण जब आत्मरमण करते हैं तब सर्वके दु:खकी निवृत्ति होती है. ज्ञानीकी उसमें कोई एकाधिकारिता नहीं रहती.

५०. भक्त ज्ञानी और अज्ञानी के बीचमें है. ब्रह्मज्ञानकी अवस्थामें सृष्टिकी ब्रह्मके साथ मौलिक एकताकी ही अनुभूति होती है. अज्ञानकी अवस्थामें केवल अनेकताकी ही अनुभूति होती है. दोनों अपूर्ण (इकतरफा) अनुभूति हैं. भक्त एकताको जाननेके बाद भी अनेकताको धिक्कारता नहीं है और अनेकताके आनन्दको लेते हुए एकताको भूलता नहीं है.

५१. सम्प्रदायमें वैष्णव महाप्रभुजीकी निधिको अधिक मानते हैं. गुसांईजीकी निधिको उससे कम शक्तिमान मानते हैं. ऐसे वर्गीकरणका भाव कैसे जागा? जो ऐसा होता तो गुसांईजीकी निधिके सामने ब्रह्मसम्बन्ध होता ही नहीं. महाप्रभु जिसे खुद पुष्ट करें अथवा तो जिसे अपने वंशजोंको साधन बनाकर पुष्ट करें उसमें कोई भेद नहीं है. जो कुछ भेद है वह तो तारीखका ही भेद है. निधिका महत्त्व केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे ही है. उसमें पुरुषोत्तमत्वका महत्त्व नहीं है. महाप्रभुजीकी निधि प्राप्त हो सकती है, फिर भी जब-तक "यह महाप्रभुजीके हृदयका सर्वस्व है" ऐसा भाव प्राप्त नहीं हो तब-तक उसकी क्या कीमत?

महाप्रभुजी तो भूतल ऊपर ५२ वर्ष ही बिराजे लेकिन उनकी शक्तिको उतने वर्षों तक सीमित नहीं मानना चाहिये. जो ऐसा

हो तो पांच हजार वर्ष पहलेके श्रीकृष्ण और आजके श्रीकृष्ण में भेद आयेगा. प्रत्यक्ष और परोक्ष में भेद करना यह कितनी क्रूरता है.

५२. हम महाप्रभुजीकी कानिसे श्रीठाकुरजीको जगाते हैं, भोग धरते हैं; वह भोग हमने नहीं धरा, महाप्रभुजीने धरा है. उस कारण कदाचित् हम मानसिक अस्वस्थतासे सेवा करें तो भी श्रीआचार्यचरणके भावसे प्रभु सेवा ग्रहण करेंगे, इस विचारसे कितनी भावमें स्वस्थता आयेगी!

५३. जो महाप्रभुजीके हृदयका सर्वस्व है उसके साथ अपना सम्बन्ध मात्र सेवकका ही है, दूसरा नहीं. सेवकपना स्थायीभाव है. सख्य शृंगार आदि संचारी भाव हैं. उनसे स्थायीभावको नुकसान नहीं होना चाहिये. सेवक सख्यपना भी निभा सकता है परन्तु सखा सेवक नहीं बन सकता. अपन् शुद्ध सेवक ही हैं. उसकी गरिमा निभे तब-तक ही दूसरे सर्वभाव चल सकते हैं.

५४. सारी सेवा अपन् कहां करते हैं? अनवसरमें सेवा व्रजभक्त और स्वामिनीजी करते हैं.

५५. अपनी शक्ति और भाव की मर्यादामें रह कर सेवा प्रकार गढ़ना चाहिये. भावावेशमें आकर अधिक सेवा करने पर टॅन्शन् होती है और सेवा नीरस बन जाती है.

५६. वार्तामें है कि अनवसर करे पीछे वैष्णव आवे तो श्रीठाकुरजीको जगा सकते हैं और वैष्णवोंको प्रसाद लिवा सकते हैं. (जो प्रसाद रखा हुआ हो तो श्रीठाकुरजीको श्रम नहीं कराना चाहिये)

५७. एक ही समयकी सेवा करते हों तो शामको सुबहका प्रसाद

लेना. लेकिन असमर्पित नहीं लेना. एक ही समयकी सेवा करते हों तो किसी समय शामको (उत्सव अथवा ग्रहणमें) फिरसे श्रीठाकुरजीको जगा सकते हैं.

५८. अनुग्रह और भक्ति एक ही चक्रके दो भाग हैं. प्रकाश पड़े तो अनुग्रह, रिफ्लेक्ट् हो तो भक्ति. समुद्रका जल ऊपर चढ़ कर बादल बनता है वह अनुग्रह. बरस कर सरिता बन कर समुद्रमें मिले वह भक्ति. इस प्रकार केवल दिशा ही अलग है, चक्र एक ही है.

५९. बालक अपनी नकल करता है, लेकिन बड़े होनेके बाद वह नकल नहीं करता; इसी प्रकार भक्ति प्राप्त नहीं हुई तब-तक भक्तिका मनोरथ, प्राप्त होनेके बाद भगवान्का ही मनोरथ.

६०. यहाँ जो मनोरथकी चर्चा है, वह कोई लौकिक-वैदिक कामनाकी पूर्तिके मनोरथकी चर्चा नहीं है, जप-तप स्वाध्यायसे प्राप्त होते फलके मनोरथ अथवा दुष्ट साधन, काम, क्रोध के फलसे बचनेके मनोरथकी चर्चा नहीं है, परन्तु यहाँ तो मात्र प्रभु सम्बन्धित, भक्ति सम्बन्धित मनोरथकी चर्चा है.

६१. दुनियाँमें कोई सम्पूर्ण ज्ञानी अथवा सम्पूर्ण मूर्ख नहीं है. हरेक ज्ञानी कितना ज्ञानी है कि जितना वह जान रहा है. हरेक ज्ञानी किसीसे गौण, किसीसे मुख्य होता है. गौण-मुख्यभाव यह अबाधित कथन नहीं हैं. उसी प्रकार सेवामें स्नेह मुख्य है. यह अबाधित कथन नहीं है. लेकिन सशर्त कथन है. कारण? अतिस्नेह हो लेकिन सेवा नहीं करे तो स्नेह गौण हो जाए; स्नेह + सेवा हो लेकिन श्रीआचार्यजीकी प्रणालीके मुताबिक न हो तो स्नेह + सेवा भी सम्प्रदायमें मुख्य नहीं है.

जिस प्रकार गन्नेके पत्ते प्रकाश ग्रहण करते हैं और मूल जलको ग्रहण करता है. पत्ते और मूल दोनों गन्नेके हैं. प्रकाशको मुख्य गिनो तो पत्ते मुख्य हैं और जलको मुख्य गिनो तो मूल मुख्य है. इसी प्रकार सेव्यस्वरूप और लीलाकथा एक-दूसरेसे मुख्य हैं और गौण भी. सेवाके लिये सेव्य मुख्य और स्नेहके लिये लीला मुख्य है.

६२. मां-बाप संततिकी सेवा करते हैं तो उसमें भक्ति कहां है? मित्र मित्रकी सेवा करे तो उसमें भक्ति कहाँ है, मनुष्य जानवरकी सेवा करे तो उसमें भक्ति कहाँ है? (सिवाय इसके कि जानवरमें उसे परमात्माका भाव हो) बाढ़ आई हो, भूकम्प आया हो, दयालु लोग दीनोंकी सेवा करते हैं तो उसमें भक्ति कहाँ है?

६३. शरणमार्गमें भक्त केवल प्रभु पर अवलम्बित रहता है; साधन पर आधार नहीं रखता, भले ही कदाचित् साधनका सहारा भी कुछ अंशमें जरूरी होता हो. जिस प्रकार बालक माता पर ही आधारित होता है भले ही वह देखता है कि घरका मुखिया पिता ही है. पिता(साधन)से भी अगर कुछ लेना है तो वह माता द्वारा ही मिलेगा.

६४. जो केवल स्वरूपासक्तिसे प्रभुका अवलम्बन करता है, वह उत्तमभक्त है. जो माहात्म्यज्ञानसे प्रभुका अवलम्बन करता है वह मध्यमभक्त है. जो अपने साधनोंके विफल होने पर प्रभुका आधार लेता है वह उससे उतरती कक्षाका भक्त है. और जो अपने किसी हेतुके लिये प्रभुका आधार लेता है वह तो कनिष्ठतमभक्त है.

६५. खाली शरणागति भक्तके लिये कल्पवृक्ष नहीं है, लेकिन भक्ति ही कल्पवृक्ष है. भक्तके मनोरथ भक्तिसे ही पूर्ण होते है,

शरणागतिसे नहीं. शरणागतिके बागमें भक्तिका कल्पवृक्ष है.

६६. पुष्टिसे प्राप्त भक्ति ही पुष्टिभक्ति है. जो साधन है वह अन्तराय दूर करनेके नकारात्मक उपाय हो सकते हैं लेकिन सकारात्मक उपाय तो नहीं ही है. जिस प्रकार गेहुंका दाना जमीनमें बोया हो तो उसमेंसे अंकुर फूटेगा ही. लेकिन उसे कीड़ा या चूहा खा नहीं जाये उसके लिये उपाय करने ही पड़ते हैं, वैसे ही यह साधन हैं. उसी प्रकार वैदिक कर्म और वर्णाश्रम धर्मोंकी बाड़में रह कर भक्तिके कोमल अंकुरको कोई विपरीत भाव नुकसान नहीं पहुंचाता.

६७. जो भक्ति हृदयमें है तो भक्तिके मनोरथका प्रश्न ही नहीं उठता. भक्ति न हो तब ही भक्तिकी वृद्धिका मनोरथ हो सकता है.

६८. भक्ति सम्बन्धित मनोरथ और प्रभु सम्बन्धित मनोरथ में श्रेष्ठ मनोरथ कौन? भक्ति चाहे जितनी श्रेष्ठ क्यों न हो, अपने लिये प्रभुकी तुलनामें भक्ति श्रेष्ठ है; जो ब्रह्मको भजनीय बनाती है; तो भी मनोरथ तो प्रभु सम्बन्धित ही श्रेष्ठ है. कारण भक्ति सम्बन्धित मनोरथ अपने लिये हैं कि मेरी भक्ति अंकुरित हो. अपने सुखकी इच्छा है. इसमें प्रभुके उपभोगका विचार नहीं है. प्रभुके उपभोगका मनोरथमें विकासके कारण भाव भुला दिया जाता है. विकासकी इच्छा ही बताती है कि अभी होशमें है. वह स्वरूपकी माधुरीसे बेहोश नहीं है. प्रभुका जो मजा लेना हो तो बेहोशी बहुत अच्छी है. सिद्धान्तका मजा लेना हो तो होश अच्छा है. प्रभुका मजा मिलता हो तो बीज खिले बगैर भी मिले तो क्या खराबी है?

६९. रस क्या? यह सीधी भाषामें समझानेकी कृपा करो. प्रभु सम्बन्धित

व्यवहार, साधना करनेमें जो आनन्द आता है वह ही रस कहलाता है क्या? स्वतन्त्र रस क्या? हास्य करुण आदि नवरस जो कहलाते हैं वह रस क्या?

रसकी परिभाषा

विभाव अनुभाव संचारीभाव से निकलता हुवा जो स्थायीभाव है वह 'रस' कहलाता है. उदाहरणके लिये श्रीरामचन्द्रजीके विवाहके नाटकमें:

(क) विभाव: सीताजी आलम्बनविभाव हैं.

(ख) उद्दीपनविभाव: सीताजीकी सुंदरता, उनकी मोहक चाल, उनके हाथमें वरमाला, वहां आसपास बैठे हुवे राजाएं, यह सब उद्दीपन विभाव हैं.

(ग) संचारी भाव: सीताजीको प्राप्त करनेकी अद्दम्य इच्छाके कारण अनुभवमें आते भाव. कभी आशा, कभी निराशा, क्रोध, दूसरे बहादुर राजाओंकी ईर्षा इत्यादि संचारीभाव हैं.

(घ) अनुभाव: ऐसे भावोंको योग्य रीतिसे अभिव्यक्त करनेवाला अभिनय वह अनुभाव.

इन सारे भावोंमें जो रतिका स्थिरभाव है, उसका नाम 'रस' है. उसी प्रकार प्रभुके लिये अनुभवमें आते आकर्षणमें आलम्बनविभाव प्रभु हैं. उद्दीपनविभाव बहुत हो सकते हैं. महाप्रभुजी, श्रीयमुनाजी, कोई तादृशी भक्त, शास्त्र, संसारके प्रति विरक्ति इनमेंसे कोई भी भक्तिशील बनानेके लिये अपनेको उद्दीप्त कर सकता है. भक्तिमें संचारीभाव भी अनेक हैं. संसारके झगडें, आसुरावेश, शंका, विकल्प, प्रभु उत्तर देंगे कि नहीं, ऐसे अनेक भाव उत्पन्न होते हैं. इन सबमें जो भक्ति अखंड रहे तो वह 'रस' है.

७०. प्रभु आलम्बन विभावरूपमें जैसे बाहर हैं, वैसे हृदयके अंदर जो भक्तिरसका भाव है वह भी प्रभु ही हैं. उदाहरणतया बल्ब =

आलम्बन, विभाव = प्रभु, प्रकाश = स्थायीभाव. प्रकाश बल्बमेंसे ही आता है वैसे ही स्थायीभाव प्रभुके कारण ही आता है. स्थायीभाव जब हृदयमें आता है तब उसे 'कृपा' कहते हैं. क्योंकि प्रभु और अपनी स्थिति एक समान नहीं है. जो एक जैसा होता तो एक्शन्-रिएक्शन् कहते.

७१. स्वरूपासक्तिमें गुणकी प्रधानता नहीं है लेकिन गुणीकी प्रधानता है. गुलाबके फूल पर जिसकी आसक्ति है उसे केवल गुलाबकी आकृति पर अथवा मात्र सुगंध पर आसक्ति नहीं है. क्योंकि यह आसक्ति कागजके फूल द्वारा या इत्र द्वारा भी संतुष्ट की जा सकती है. लेकिन वैसा तो नहीं है. वह तो गुलाबके फूल पर ही आसक्त है. यह स्वरूपासक्ति है. रूपासक्तिसे स्वरूपासक्ति अलग होती है. रूप यह शरीरका गुण है अर्थात् रूपमें आसक्ति यह भी 'गुणासक्ति' ही कहलाती है. जारभाववाली गोपियोंको रूपमें आसक्ति थी. उनको दूसरी गोपियोंसे उतरती हुई कक्षामें गिना जाता है. दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो 'स्वरूपासक्ति' मानें सम्पूर्णरूपमें प्रभु जिस स्वरूपसे तुम्हारे सामने आयें उनमें आसक्ति.

७२. केवल भक्तिके भरोसे नहीं रहना! व्यसन दशाको पहुंची हुई भक्ति भी नष्ट हो सकती है. ऐसी भक्तिका योग तो है पर क्षेमकी कोई गारन्टी नहीं. जिस प्रकार तुमको लाख रूपयेकी लॉटरी लगे और तुम झोंपड़ीमें रहते हो तो इस झोंपड़ीमें तुम्हारा लाख रूपया क्या सुरक्षित है?

७३. तुम जहां हो वहांसे तुमको आगे बढ़ानेवाला फॅक्टर् क्या है? वह श्रीहरि ही हैं. भक्तिकी बढ़ोत्तरीके लिये हरिमें विश्वास है. जो विश्वास हो तो भक्तिकी अधमाधम कक्षावालेके लिये

भी उपाय है. जो यह विश्वास न हो तो ऊंचीमें ऊंची कक्षावालेके लिये भी चौपट ही समझना. वह जीव भक्तिका अधिकारी नहीं है. उसकी चिकित्सा दूसरे उपायोंसे करनी पड़ेगी!

७४. भक्तिवर्धिनीमें जो उपाय बताये गये हैं वह भक्तिकी वृद्धिके लिये हैं, भक्तिकी उत्पत्तिके लिये नहीं.

७५. जिस रीतिसे प्रेम आसक्ति और व्यसनके रूपमें भक्ति प्ररोह(प्रवृद्ध) होती है उसी प्रकारसे उसका प्रसार भी धीरे-धीरे होता है. स्नेह आत्मामें बीजरूपसे होता है. इसी स्नेहका प्रसार बुद्धिमें माहात्म्यज्ञानके रूपमें, हृदयमें प्रेमके अंकुरके रूपमें होगा. सेवाप्रधान व्यक्तिकी कर्मेन्द्रियोंमें व्याप्त होगा, कथा प्रधान व्यक्तिकी केवल ज्ञानेन्द्रियोंमें (कानमें मनमें और वाणीमें) व्याप्त होगा. व्यक्ति त्यागप्रधान होगा तो वह अपनेमें सीमित रहेगा. अत्यागप्रधान होगा तो अपना गृहस्थाश्रम भी फैलायेगा. यदि भक्ति और बढ़ी तो किसे-किसे पकड़ेगी; जैसे कि चाचा हरिवंशजी जिस रास्तेसे पधारते थें, जिस गाँवमें रुकते थें वहां भी भक्तिका प्रसार होता जाता था.

७६. सेवामें किसीको शृंगारमें आसक्ति होती है, किसीको सामग्री बनानेमें होती है, किसीको तीसरी ही किसी बातमें आसक्ति होती है. उस-उस वस्तुमें कुशलता होनेके कारण उनका चित्त उन-उन बातोंमें स्वतः प्रवण हो जाता है. लेकिन उसे उत्तम भगवदीय जान कर कोई दूसरा उसकी क्रियाको बाहरसे अनुसरण करनेका प्रयत्न जब करता है तब तो वह क्रिया कर्मकाण्ड जैसी बन जाती है. चित्त उसमें एकाग्र नहीं हो सकता.

७७. जिसमें जिस समय जो भाव उद्दीप्त करना हो उस समय वैसी

क्रिया प्रभु करते हैं. अविवाहित गोप कन्याओंमें चीरहरणके प्रसंगमें और श्रुतिरूपा गोपियोंमें वेणुगीत द्वारा प्रभुने स्नेहात्मक स्थायीभाव प्रकट किया था.

७८. भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थ है. धर्म अर्थ काम मोक्ष उपरान्त भक्ति, यह पांचवा पुरुषार्थ है. 'पुरुषार्थ' अर्थात् जीवन जीनेकी प्रणाली, ध्येय. वह एक-दो दिनके लिये या कोई शौककी वस्तु नहीं है, करी और छोड़ दी. भक्ति धर्मके लिये नहीं अथवा न ही शास्त्रज्ञ बननेके लिये. भक्ति कामके लिये भी नहीं करनी और न किसी कामनाकी पूर्तिके लिये. भक्ति द्वारा मोक्ष भी नहीं लेना. भक्ति अर्थके लिये भी नहीं. उसके द्वारा अर्थोपार्जन भी नहीं करना. भक्ति केवल भक्तिके लिये ही करनी है. भक्ति ही साधन और भक्ति ही फल है.

७९. महाप्रभुजी कहते हैं कि लीलारहित केवल स्वरूपमें अति आसक्ति हो और उसका प्रतिरोध करने वाली लीलासक्ति या सेवासक्ति न हो तो वह स्वरूपमें ही लीन हो जाते हैं. इसीलिये विशिष्ट स्वरूपमें आसक्ति होनी चाहिये.

८०. पुष्टिके चार भेद हैं:

(१) शुद्धपुष्टि : ऐसे जीवोंने शास्त्र सेवा सत्संग कोई भी उपाय नहीं किया. ऐसा होते हुवे भी प्रभु उनके सामने प्रकट हुवे हैं इस कारण वे प्रभुसे प्रेम कर रहे हैं. ऐसे जीवोंको प्रभु खोज रहे हैं.

(२) पुष्टिपुष्टि : ऐसे जीव सेवा भक्ति वगैरह सर्व पहलुओंको जान कर भक्ति कर रहे हैं.

(३) मर्यादापुष्टि : ऐसे जीव आधी बात जानकर (गुणानुवाद अथवा स्वरूप सेवा) कथा या सेवामें प्रवृत्त होते हैं.

(४) प्रवाहपुष्टि : इन जीवोंमें गुणासक्ति भी नहीं है और स्वरूपासक्ति भी नहीं है; वह तो मात्र गुरुके उपदेशके अनुसार क्रियामें प्रवृत्त हैं.

८१. प्रभुकी बारह शक्तियाँ हैं. विद्याशक्ति व्यामोहिकाशक्ति अविद्याशक्ति वगैरह. यह जगत् प्रभुके अलग-अलग गुणों और शक्तियोंकी अभिव्यक्ति है. जिस प्रकार बीजमें रही हुई विविधताकी शक्तिके कारण फूल फल पत्ते आदि अलग-अलग रंग और आकारको धारण करके वृक्षरूपमें प्रकट होता है वैसे ही प्रभुमें जो-जो विविधता रहती है वह ही सर्वत्र प्रकट हो रही है. किसीमें पुष्टिगुणकी विद्या या ज्ञान और किसीमें अविद्या या सांसारिक मोहकी अभिव्यक्ति दिखती है. किसीमें मर्यादागुण, किसीमें ज्ञान, किसीमें कर्म और किसीमें भक्ति प्रकट हो रही है.

प्रभुकी कृपा निरुपाधिक है. लेकिन यह कृपाशक्ति शुद्धपुष्टिभक्तिमें ही विशुद्ध रूपसे बिराज सकती है, जिसमें प्रभुकृपा अकारण प्रकटी है. दूसरे मिश्र पुष्टिभक्तोंमें कृपा होनेके पीछे कोई न कोई कारण दिखाई देता है. इसलिये निरुपाधिक कृपाको पहचानना बहोत कठिन बात है.

परमात्माकी जगत्में रही हुई विविध अभिव्यक्तियोंको निंदाकी दृष्टिसे देखोगे तो प्रभुका दैवी जीवोंके प्रति पक्षपात दिखाई देगा और लीलाकी दृष्टिसे निहारोगे तो प्रभुकी विविधताका आनन्द लोगे.

८२. भोजनमें मिर्च खाना शुरुआतमें असह्य लगता है लेकिन बादमें उसके स्वादमें आती तन्मयताके कारण वही आनन्द देने लगता है. इसी प्रकार प्रभुमें अतन्मय हो तो ताप होना चाहिये और तन्मय हो तो आनन्द होना चाहिये. लेकिन जो हमको ताप या आनन्द कुछ भी नहीं होता तो हमें प्रभुके प्रति स्नेह

नहीं है और इसी कारण प्रभुके प्रति दूरी हमें अनुभवमें ही नहीं आती.

८३. हृदयका मनोरथ यह एक सांचा है. रति यह रस है. जैसे पात्रमें दूध उबलता-उबलता खोया बन जाता है; निराकार दूध पेड़ा बरफी जैसा आकार धारण करनेमें समर्थ बन जाता है. वैसे ही रति उबलकर जैसे-जैसे गाढ़ी होती जाती है वैसे-वैसे वह साकार बननेमें समर्थ बन जाती है और मनोरथके सांचेकी छापके हिसाबसे आकार ग्रहण कर लेती है.

प्रेम खुद प्रियतम बन जाता है, कोई भी प्रियतम, प्रेमके कारण ही प्रियतम लगता है. जो प्रेम किसी व्यक्तिको प्रियतम बना सकता है तो खुद प्रेम ही प्रियतम क्यों नहीं बन सकता? जब चाणक्य चंद्रगुप्तको राजा बना सकता है तो उसमें ताकत है कि वह खुद भी राजा बन सकता है.

८४. लौकिकमें यथार्थ और भ्रम में अंतर है. कारण लौकिकमें प्रेमका विषय व्यापक नहीं होता. लौकिकमें जो बाहर है वह भीतर प्रवेश नहीं कर सकता; केवल भ्रमित कर सकता है, लेकिन अलौकिक भीतर बाहर सर्वत्र है. उसके लिये किसी वस्तुमें आकार प्रकट होना चाहिये, उसके उपरांत उसमें भाव स्थापित होना चाहिये. यह ब्रह्म साकार हुवा, किस प्रक्रियासे? भावसे.

८५. हृदयस्थ प्रभु और सेव्य स्वरूप दोनोंमें किसका महत्त्व अधिक गिनना या किसीको छोटा या बड़ा गिनना?

जैसे कलाकारका भाव शिलामें आकार लेता है वैसे ही भक्तिशास्त्रकी दृष्टिसे हृदयका भाव भगवान्को आकार देता है.

ध्यानवादी कहते हैं कि मनकी मूर्तिका ध्यान करो, मनकी मूर्ति दिव्य होती है, पत्थर या धातुकी नहीं; लेकिन वे लोग

भूल जाते हैं कि मन भी भौतिक ही है. पत्थरको आकार दो या मनको दो, दोनों भौतिक ही हैं.

इसलिए वे दोनों मूर्ख हैं जो प्रभुको केवल बाहर ही मानते हैं अथवा जो प्रभुको केवल भीतर ही मानते हैं.

श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है कि भाव और योग से तुम्हारे हृदयकमलमें जो मूर्ति गढ़ी जाती है वह केवल तुमने ही नहीं गढ़ी लेकिन प्रभुके अनुग्रहसे ही गढ़ी गई है. ऐसा अनुग्रह किसी सत्पुरुष पर ही होता है. यह अनुग्रह सत्य होता है यह कोई भ्रम नहीं है जिसको बाल कन्हैया पर प्रीति है उसके लिये प्रभु वास्तवमें सुन्दर बालकके रूपमें प्रकट होते हैं. "छोटो सो बाल कन्हैया" ये कीर्तन ऐसे प्रभुका वर्णन करते हैं. प्रभु भक्तके भावके अनुसार रूप धारण करते हैं, लेकिन उसको इन दोनों अतिवादोंसे बचना चाहिये कि मानसी मूर्ति ही सर्वथा दिव्य है अथवा तो शिलामूर्ति ही केवल पुष्ट होनेके कारण दिव्य है.

८६. किसीकी प्रतीक्षामें जब आसन बिछाया जाता है तब आनेवालेको भी आनन्द और संतोष होता है कि ये मेरी बाट देखते हैं; आयेंगे तब आसन बिछायेंगे इसमें भावकी उत्कटता नहीं है, आनेवालेको मनकी अनुत्कटता समजमें आती है.

उसी प्रकार हृदयको भावयोगसे परिभावित करो. हृदयको एक कमलकी तरह सुघढ़ करो कि प्रभुके लिये वह आसनरूपमें तैयार हो जाये. प्रभुकी प्रतीक्षा करो. ऐसे सुंदर हृदयमें प्रभुका भी बिराजनेका मन होगा. प्रभु आवेंगे कहांसे? आंख कान के दरवाजे खुले रखो. जो स्वरूप सौन्दर्य गुणमाधुर्य या लीलालावण्य सुना, जो प्रिय स्वरूपके दर्शन किये उस इन्द्रियके द्वारसे प्रभु भीतर पधारेंगे.

८७. महाप्रभुजीकी वाणीमें कहा हुवा बहुत थोड़ा होता है और न

कहा हुवा बहुत ज्यादा होता है.

८८. बी.ए. तक पहुंचे हुएको रोज 'क' की वर्णमाला रटनेकी जरूरत है? क्या ऐसा भी कहा जा सकता है कि बी.ए. होनेके उपरान्त 'क' 'का' 'कि' 'की' कोई प्रकारसे उपयोगी नहीं हैं? वर्णमाला अर्थात् विश्वास, बीज भाव दृढ़ हुवा है. इसके बाद विश्वासको दृढ़ बनानेकी इतनी जरूरत कहां है! साधनाके प्रयासकी जरूरत है. ऐसे तो अष्टाक्षरसे भी भक्ति बढ़ती है लेकिन सवाल ये है कि ऐसा कब करना? श्रोता वक्ता और प्रसंग के अनुकूल वचन आप्त वचन हैं.

८९. भाव जिस प्रकार शिलाको आकार दे सकता है वैसे ही मनको आकार दे सकता है. (जो प्रयत्न करें तो मनमें कोई भी मूर्ति गढ़ी जा सकती है) बाहरकी तरह यह बात भीतर भी लागू पड़ती है. भाव जब आकार लेता है तो दो प्रकारसे : एक तो किसीके द्वारा गढ़े हुवे आकारमें अपना भाव स्थापित हो. दूसरे कलाकार अपने हृदयमें उभरते हुवे भावके अनुसार आकार गढ़ता है. भावसे गढ़ी हुई मूर्ति बादमें वह चाहे शिलामें हो या मनमें, लेकिन वह होती तो आनन्दात्मक ही है. इसी प्रकार भाव और योग दोनोंके सहयोगसे हृदयकमलमें मूर्ति गढ़ी जाती है. केवल प्रयत्न करनेसे (योगसे) जब कोई मूर्ति गढ़ी जाती है तो वह भावात्मक न होनेके कारण आनन्दात्मक नहीं होती. लेकिन रतिसे जो मूर्ति गढ़ी जाती है वह तो अपने आप गढ़ी जाती है. रतिरस तापमें उफन कर घनीभूत हो जाता है. यह आकार शुद्धभावात्मक होता है.

९०. शिलामूर्ति धातुमूर्ति या चित्रमूर्ति भावसे गढ़ी हुई ही होनी चाहिये, यह जरूरी नहीं है. भाव स्थापित भी हो सकता है. रसोई

कोई खुद बना कर खाये, कोई बनी बनाई खाये, स्वाद तो दोनोंको ही आयेगा.

कालीदासने कहा है : कविताका सौंदर्य कवि नहीं जानता, लेकिन काव्यरसिक पंडित जानता है. पुत्रीका सौंदर्य पिता नहीं जानता, लेकिन पति जानता है. जिसने मूर्ति गढ़ी है वह पिता है और गढ़ी हुई मूर्ति पर जिसका भाव स्थापित हुवा है वह पति है.

भाव गढ़नेमें जितना आनन्द आता है, उतना ही भाव स्थापित करनेमें भी आता है. अपना तो आनन्द लेनेके साथ सम्बन्ध है.

आचार्यचरण हरेक सेवकको ब्रह्मसम्बन्ध देनेके बाद कहते: जा दुकानमें जा कर तुझे जो स्वरूप अच्छा लगता हो वो स्वरूप पधरा ला. स्वरूप तो बहुत हैं लेकिन जो स्वरूप मनको भा जाये उसमें भाव स्थापित हो गया. अच्छा लगनेवाला स्वरूप पधराना, यह स्वयंवर है.

९१. यथार्थदीपिकाकार वामनने कहा है कि घी पिघला हुवा हो या जमा हुवा लेकिन है तो वह घी ही. इसी प्रकार प्रेमके घनीभूत होनेसे आकार प्रकट हो कि द्रवीभूत होनेसे निराकार हो, दोनों ब्रह्मात्मक हैं.

जिन्हें प्रभुके स्वभावका पता नहीं है कि वह अंदर-बाहर सर्वत्र व्यापक है वे ही सगुण निर्गुण का झगड़ा करते हैं. खाली सगुणवादी या निर्गुणवादी दोनों बीमार हैं. सर्वरूप प्रभु धरते हैं तो वह साकार क्यों नहीं बन सकते!

लेकिन इसमें फर्क इतना ही है कि जो आकार क्रियाप्रधानता (धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्रधानता)से किया तो वह भावात्मक नहीं होता. और जो रतिप्रधानतासे किया तो वह भावात्मक है.

९२. शास्त्र कहते हैं कि प्रभुसेवाके योग्य तो शुद्ध सुखी (दु:खी जीव सेवा करेगा तो उसे अपने दु:खको दूर करवानेका भाव रहेगा. ऐसा जीव प्रभुको सुख नहीं दे सकता) और ब्रह्मविद्याविशारद जीव ही है. इसीलिये ही शास्त्रमें नवधाभक्तिमें श्रवण कीर्तन और आखिरी आत्मनिवेदन, यह क्रम बताया गया है. श्रवण कीर्तन स्मरण से जीव शुद्ध होता जायेगा, सुखी और ब्रह्मविद्या विशारद होता जायेगा. आखिरमें वह दास्य और सख्य के लायक बनेगा और अंतमें वह आत्मनिवेदन करेगा. महाप्रभुजीने यह क्रम भगवद्आज्ञासे उल्टा कर दिया. ब्रह्मसम्बन्ध द्वारा पहले आत्मनिवेदन कराया. क्योंकि कर्म और उसके फल का चक्कर बहुत भारी है. लेकिन महाप्रभुजीने (कर्मफलकी) मर्यादा तोड़नेका और पुष्टि स्थापन करनेका कार्य प्रभुके पास रखा. जो मर्यादा बना सकता है वह तोड़ भी सकता है. मर्यादामें, शास्त्रोक्त नवधाभक्तिमें, शुद्धि सेवामें साधक होगी पुष्टिमें शुद्धिसाधक सेवा होगी. "**शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदा: भगवत्सेवने योग्या नान्य:**"

(१) ब्रह्मसम्बन्ध करनेसे जीव शुद्ध बनेगा. (शुद्ध)

(२) सर्वसमर्पण करनेसे निश्चिंत बनेगा. (सुखी)

(३) ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होनेसे ब्रह्मविशारदता आयेगी और जीव सेवाके लायक बनेगा (लम्बी प्रोसेस्में घुसे बगैर) सेवाके अनवसरमें श्रवण कीर्तन स्मरण करना कहा गया है. महाप्रभुजीका क्रम इस प्रकार है:

(१) आत्मनिवेदन (इस स्थायीभावके संचारीभाव जैसे दास्यभाव और सख्यभाव)

(२) पादसेवन अर्चन वन्दन कीर्तन (सेवाके अवसरमें)

(३) श्रवण कीर्तन स्मरण (सेवाके अनवसरमें).

९३. प्रभु अपनी सर्व शक्तियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं. उसके फलस्वरूप यह सृष्टि उत्पन्न हो रही है. बहुतसे जीव ऐसे हैं कि वह

प्रभुकी अविद्याशक्तिके कारण सुखी हैं. ऐसे जीवोंकी जो अविद्या दूर करनेमें आये तो वह सुखी जीव बिचारा दुःखी हो जायेगा.

९४. ज्ञानमार्गीय ब्रह्मविद्यावान हो तो ही उसकी मुक्ति. भक्तिमार्गीय पुष्टिवान हो तो ही उसकी भक्ति सफल.

९५. सेवामार्ग रचनेमें महाप्रभुजीने
(१) साधनकी शुद्धता (२) शास्त्रीय प्रमाण
(३) जीवोंकी साधनक्षमता (४) देशकालकी मर्यादा
इन सब पर नज़र रख कर उपदेश दिया है. नवधाभक्तिका प्रकार तो शास्त्रमें बताया ही गया है, लेकिन महाप्रभुजी जानते हैं कि विधिकी उष्णता भाप बन कर उड़ जायेगी. कर्मकाण्डमें भावात्मक स्वरूप खो जाता है. इसलिये शास्त्रोक्त नवधा भक्तिका क्रम बदल डाला है. उसका कारण? शास्त्रमें कहीं भी यह नहीं कहा गया कि यह नौ क्रम इस क्रममें ही होने चाहियें.

९६. कोई भी साधन जो ईश्वरावलम्बनी हो उसके गुण महाप्रभुजीने सेवामें गूंथ दिये हैं. और जो-जो गुण सेवामें नहीं रखे वे किसी दूसरे मार्ग या साधनामें नहीं हैं ऐसा विचार अपन् निश्चिंततासे रख सकते हैं.

९७. भाव जब अति रूढ़ हो जाता है तब उसका आचरण मार्गके सिद्धान्तके अनुरूप नहीं भी रहता. वासुदेवदास छकड़ा सोनेकी मोहरोंको लाखके गोलेमें छिपा कर मार्गमें उसका पूजन करते-करते महाप्रभुजीके पास ले गये. महाप्रभुजीने इस प्रकारसे करनेका निषेध किया कि भगवत्स्वरूपका खंडन नहीं करना लेकिन वासुदेवदासने फिर श्रीगोपीनाथजीको भी इसी रीतिसे मोहर पहुंचाई. श्रीगोपीनाथजीने महाप्रभुजीकी आज्ञाके उल्लंघनका कारण पूछा. उन्होंने कहा कि

गुरुका कार्य तो करना ही है भले नरकमें जाना पड़े.

गोकुलेशपंथ भी इसी रीतिसे प्रकट हुवा है. श्रीगोकुलनाथजीकी आज्ञाका उल्लंघन करके उनके सेवकोंने पंथका स्थापन किया है. इसमें सिद्धान्त कुछ भी नहीं है अपसिद्धान्त ही है. फिर भी रूढ़ भावका कुछ उपाय नहीं है.

गज्जनधावन प्रभुके साथ क्रीडामें घोड़ा बनते और मंदिरमें घोड़ेकी तरह लघुशंका करते. इन सब अपसिद्धान्तोंकी अपन् नकल नहीं कर सकते. ऐसी भावनाकी रूढ़ता कहां है? फिर भी अपन् कई बार ऐसे अपसिद्धान्तोंका ही लाभ ले लेते हैं.

९८. एक ही ब्रह्मसम्बन्ध मंत्रमें आत्मज्ञानोपदेश, भगवत्स्वरूपज्ञानोपदेश, समर्पणोपदेश, दास्योपदेश और स्नेहोपदेश इतने उपदेश दिये गये हैं.

इन उपदेशोंके सारे पक्ष ध्यानमें रख कर सेवामार्गमें प्रवृत्त होना है. इनमेंसे एक या दोको छोड कर सेवा करनेमें या तो सेवाका या सेवकका स्वरूप बदल जाना सम्भव है.

(क) उदाहरणके लिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको समर्पित हो सकता है लेकिन दास नहीं हो सकता (मित्र सम्बन्ध) अथवा दास हो लेकिन समर्पित न हो. (उदाहरणके लिये कोई अपनी बिगड़ी आर्थिक स्थितिमें क्यों किसीका दासपना स्वीकारे!). 'समर्पित होना' अर्थात् मैं और मेरा सब तेरा है.

(ख) केवल आत्मसमर्पणका भाव हो तो भक्ति होती है; लेकिन सेवा न भी हो. और केवल दास्यभाव हो तो सेवा हो और भक्तिकी गुंजाइश हो भी और न भी हो.

(ग) कन्या पतिको आत्मसमर्पण करे तो जरूरी नहीं है कि वह दासी बन जाये. वह अर्धांगिनी बन कर रह सकती है. सेवामार्गमें बढ़नेके लिये आत्मसमर्पणका सीधासादाभाव बहुत सहायक नहीं होता. उसके लिये दास्यभावका उपदेश जरूरी है. दास्यभाव

मालिकसे लाभ लेनेको नहीं किन्तु आत्मसमर्पणके भावसे करना है. महाप्रभुजीका सेवामार्ग कर्ममार्गीय रूपसे नहीं करना लेकिन भक्तिमार्गीय रूपसे करना है.

(घ) समर्पणके कारण गलत निश्चिंतता नहीं आ जाये कि "सैंया भये कुतवाल अब डर काहेका" उसे संतुलित करनेके लिये दास्यभावका उपदेश करनेमें आया है. दासपना भाररूप न लगे इसलिये आखिरमें पंचाक्षरमें स्नेहोपदेश है. जिसपर स्नेह हो उसकी गुलामी भी अच्छी लगती है.

थोड़ेमें ब्रह्मसम्बन्ध मंत्रमें :-

(१) आत्मज्ञानोपदेश : सेवोपयोगी दैन्यका भान करानेके लिये.

(२) भगवन्माहात्म्यज्ञानोपदेश : भगवत्स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये.

(३) समर्पणोपदेश: यह दैन्यका ॲण्टीडोज़् है. मेरी जो कुछ कमी थी उसे निकालनेके लिये जो कुछ मेरा है उसे तुझे समर्पित करता हूं. जैसे गंगाके पवित्र प्रवाहमें गंदाजल मिल कर खुद गंगाजल बन जाता है; उसी प्रकार जीवकी सर्व इच्छा वासना सेवाके प्रवाहमें बह कर भगवन्मय हो जाती है.

(४) दास्योपदेश : सेवामें प्रवृत्त करनेके लिये.

(५) स्नेहोपदेश : सेवाको भक्तिके रूपमें विकसित करनेके लिये.

९९. सिद्धान्तमुक्तावली और भक्तिवर्धिनी में जो संगति है वह सामान्य विशेष भावकी संगति है. सिद्धान्तमुक्तावलीमें सेवाका सिद्धान्तरूपमें वर्णन है. भक्तिवर्धिनीमें सेवकको विशिष्ट उपदेश देनेमें आया है.

उदाहरणके तौर पर ब्रह्मका वर्णन, यह सामान्य वर्णन है. लेकिन भगवान् व्रजाधिप परमात्मा होना यह उसकी विशेषता है. व्रजाधिपको ब्रह्मके तौर पर समझोगे तो उसमें घोड़ा गधा भी शामिल होंगे. और ब्रह्मको जब व्रजाधिपकी तरह समझोगे तो उसमें द्वारकाधीश भी शामिल नहीं होंगे. इतना फर्क सामान्य

और विशिष्ट में होता है. अथवा दूसरे प्रकारसे देखें तो वैष्णवदृष्टिसे हम सामान्य हैं, लेकिन पुष्टिमार्गीय दृष्टिसे हम विशिष्ट हैं. हिन्दू तरीके सब सामान्य हैं. हिन्दू तरीके शैवोंके साथ हम एक हैं और आस्तिक तरीके तो सर्वधर्मोंके साथ (नास्तिक जैन बुद्ध के अतिरिक्त) एक हैं.

इस प्रकार जितना विशिष्टपना आयेगा उतना ही मार्ग संकीर्ण होता जायेगा. भावरेखा नाजुक बनती जायेगी. सिद्धान्तमुक्तावलीमें समझो, एक मशीन पुष्टिमार्गीय जीवके हाथमें महाप्रभुजीने सौंपी है, लेकिन उसका उपयोग कैसे करना उसकी जानकारी भक्तिवर्धिनीमें है.

सेवकको भक्तिका उपदेश और भक्तको सेवाका उपदेश ये विशिष्ट उपदेश है.

१००. जैसे प्रत्येक पूंजीवाला व्यक्ति पूंजीवादी हो और न भी हो, वैसे ही हरेक मुफलिस आदमी साम्यवादी हो ऐसा भी जरूरी नहीं है. वैसे ही प्रत्येक भक्त भक्तिवादी ही हो या हरेक भक्तिवादी भक्त ही हो ऐसा जरूरी नहीं है. स्वभावसे भक्त होते हुए भी बहुत लोग ज्ञानकर्मके चक्करमें चढ़ जाते हैं तब ऐसा होता है.

१०१. सेवामें मानसी हो जाय वह तो उसका वीर्य गुण बताता है और भगवत्प्रवणता उसका श्री गुण बताता है. भगवत्प्रवणता फलरूप कब होती है? जब वह मानसीमें प्रकट हो. लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि सेवा मानसी होती है लेकिन भगवत्प्रवणता नहीं होती.

लोभी सेवककी वार्तामें उसने मानसीमें भोग धरे हुए दूधमेंसे शक्कर निकाली. इस वार्तामें उसका चित्त लोभप्रवण था.

१०२. हिमालय अपनेसे कितना दूर है. लेकिन उसका विप्रयोग होता

है? मां बच्चेसे जरा दूर जाये तो तुरन्त उसको विप्रयोग होता है.

'दूरी'का मतलब विप्रयोग नहीं है लेकिन दूरीका अनुभव होना ये विप्रयोग है. विप्रयोगका अर्थ ही स्नेह है. जितना अधिक स्नेह उतना अधिक विप्रयोग.

१०३. स्नेही और चापलूस दोनोंकी बाह्य क्रिया एकसी होती है. दोनों स्तुति करते हैं, लेकिन स्नेहीको कोई अपेक्षा नहीं होती तो भी वह प्रियको खुश करनेके लिये हृदयसे मधुर स्तुति करता है. चापलूस भी स्तुति करता है, लेकिन उसके हृदयमें स्वार्थकी दुर्गन्ध भरी होती है.

१०४. गमलेमेंसे वृक्षको खिंचे तब जड़के साथ-साथ ही गमलेके आकारकी मिट्टी भी बाहर खिंच आती है. गमला = देह, मिट्टी = बीजभाव, जड़ = आत्मा. देह जब छूटती है तब सूक्ष्मदेहके साथ भक्ति भी खिंच जाती है. उसी प्रकार भक्ति आत्मामें ओतप्रोत हुई होनी चाहिये. प्रसारके बगैर प्ररोह बढ़ जाये तो वृक्षको जब चाहे मिट्टीमेंसे अलग कर सकते हैं.

१०५. शास्त्रमें कहा है कि ऋण चुकाये बगैर जो मनुष्य संन्यास ले तो उसकी अधोगति होती है. महाप्रभुजी अव्यावृत होनेके लिये नहीं कह रहे हैं, लेकिन कहते हैं कि तुम जो अव्यावृत हो तो पूजा-श्रवणादि कर सकते हो.

१०६. मृत्युके बाद आत्मा पहले तेजशरीर, बादमें वायुशरीर, बादमें आकाशशरीर धारण करती है. बरसातके समय यह आत्मा जलशरीर धारण करती है और पृथ्वीपर गिरती है. बादमें औषधिशरीर, अन्नशरीर धारण करती है. फिर भोजनद्वारा मनुष्यके पेटमें जाती

है. वहांसे वीर्यशरीर, गर्भस्थ पिंडशरीर, अंतमें गर्भ छोड़ कर मनुष्य आदि देह धारण करती है. अन्नशरीर प्राप्त करनेके बाद जो भोजन नहीं मिले और शरीर सूख जाये तो फिरसे इसी चक्करमेंसे निकलना पड़ता है.

भोजन करते हुवे अपन् किसी न किसी जीवका भक्षण करते हैं इसलिये हम यमराजका कार्य करते हैं, इसलिये कुछ हिस्सेको देनेकी शास्त्रमें आज्ञा है.

ब्राह्मण लोग भोजनको यज्ञ मानते हैं. खुराक आहुति है. प्राण अपान आदि पांच वायुको आहुति देनेमें आती है. और प्राप्त भोजनमेंसे यम, चित्रगुप्त आदि देवोंके लिये कुछ कौर पहले निकालना पड़ता है. इस उदाहरणमें कर्मके लिये देवता हैं, देवताके लिये कर्म नहीं. समर्पण भी एक कर्म ही है, इसलिये समर्पणके लिये श्रीठाकुरजीको पधरानेकी स्वार्थी भावना कभी नहीं रखनी. गोस्वामी बालकोंके तपेलीके श्रीठाकुरजी अनप्रसादी न खानेके लिये निष्प्रयोजन कर्मकाण्डके लिये हैं. सेवामार्गमें देवके लिये कर्म और कर्मके लिये अपन् होते हैं.

१०७. ब्रह्मको जानना है, सेवा नहीं करनी. पूज्यता भगवान्की है ब्रह्मकी नहीं. ब्रह्मसम्बन्धात्मक भी नहीं, पुरुषोत्तमसम्बन्धात्मक है. लेकिन भावात्मक नहीं, जबकि यशोदोत्संगलालित भावात्मक हैं, केवल सम्बन्धात्मक नहीं. क्या भाव? श्रीयशोदाजीमें जैसा वात्सल्यभाव है वैसा भावात्मक. उसमें भी श्रीगोपीजनवल्लभभावात्मक और ये भी श्रीआचार्यजीके सर्वस्वभावके अनुरूप, ऐसे स्वरूपकी सेवा करनी है.

ब्रह्मको पात्र मानें तो भगवान् रसस्थानीय, भगवान्को पात्रस्थानीय मानें तो पुरुषोत्तम रसस्थानीय, पुरुषोत्तमको पात्र मानें तो यशोदोत्संगलालित रसस्थानीय वैसे ही यशोदोत्संगलालित श्रीकृष्णको पात्रस्थानीय मानें तो गोपीजनोंका भाव रस स्थानीय है. लेकिन रस-पात्रका भेद

नहीं करेंगे तो ही समझ सकेंगे.

अथवा तो जैसे नारियलमें गोलेकी कटोरी और उसका जल दोनों ही एक तत्त्व हैं. एक घनीभूत, दूसरा द्रवीभूत. सेवन रसका करना है, पात्रका नहीं. थोड़े आगे बढ़ें तो गोपीजनोंके भावको पात्रस्थानमें रखें तो श्रीआचार्यजीका भाव रस माना जा सकता है.

(श्रीआचार्यचरणोंका भाव अर्थात् जो रस गोपीजनवल्लभ रूपी पात्रमें भरा हुवा है वह.) उसमें श्रीआचार्यचरणोंके भावसे स्वरूप रसस्थानीय. उसमें अपना भाव रहा हुवा है. जब महाप्रभुजी स्वरूप पधराते तब कहतें कि "मैं तोकूं अपनो सर्वस्व पधराय रह्यो हूं" ऐसे नहीं कहते थें कि मैं श्रीयशोदोत्संगलालित या श्रीगोपीजनवल्लभ पधरा रहा हूं. इसलिये जो भाव श्रीआचार्यचरणने सेव्यमें बताया है उस भाव्यके अपन् सेवक हैं. वैसे होते हुवे सोचो कि महाप्रभुजीने किसमें अपना भाव स्थापित किया? श्रीगोपीजनवल्लभमें. गोपियोंके श्रीयशोदोत्संगलालितमें, श्रीयशोदाजीने पुरुषोत्तममें (यहांके बाद भाव खत्म हो जाता है) ऐसे तीनों भाव एक होते हुवे भी उत्तरोत्तर भाव बहुत सूक्ष्म बनता जाता है. अपन्ने श्रीआचार्यजीके भाव्यको सेव्य बनाया है, इसलिये सेवामें बहुत व्युत्क्रम मिलेगा; जो यशोदाजी या गोपीजनों में न हो लेकिन अपनेमें हो. एवरॅस्ट् पर्वत चाहे जितना फैलावमें हो लेकिन शिखरका भाग प्रमाणमें कितना संकरा(नॅरो) होता जाता है, वैसे ही सेवाके लिये स्वरूप बहुत संकुचित है; लेकिन समझनेके लिये स्वरूप बहुत व्यापक है. श्रीआचार्यजीकी विधिसे सेवा करते-करते उनके हृदयका सर्वस्वरूप प्रकट होगा. वहां सम्बन्धसे ही भाव प्रकट होगा. जैसे विवाह सम्बन्धके बाद साथ रहते-रहते भाव विकसित होता है वैसे ही श्रीआचार्यचरणने शुरुआत सेवासे करी है; भक्तिसे नहीं करी.

पहले सेव्य-सेवकका सम्बन्ध स्थापित करो, भाव हो अथवा

न हो. धीरे-धीरे भाव खिलेगा, लेकिन थोड़े समय तो भावना करनी ही पड़ेगी कि अपना भाव सम्बन्ध खिल रहा है.

पुरुषोत्तम सम्बन्धात्मक है और ये अन्य पुरुषकी तुलनामें स्वत: उत्तम रहेगा ही. इसकी उत्तमता अपने भावके साथ घटित नहीं होती.

जिस प्रकार पिता-पुत्र, भाई-भाई परस्पर सम्बन्धात्मक हैं, भाव हो अथवा न हो लेकिन स्नान-सूतकका व्यवहार तो करना ही पड़ता है. लेकिन दोस्तीका सम्बन्ध भावात्मक है. भाव है वहां-तक दोस्ती. भाव खंडित होनेके बाद उसके साथ स्नान-सूतकका भी सम्बन्ध नहीं.

१०८. व्यास आश्रमके बाहर महाप्रभुजीकी आज्ञासे कृष्णदास तीन दिन तीन रात खड़े रहे. इस प्रसंगमें उनके कर्मकी कीमत नहीं है लेकिन उनकी अडिग निष्ठाकी कीमत है. ऐसे खड़े रहनेमें उनको या महाप्रभुजीको कोई फायदा नहीं हुवा, फायदा हुवा दुनियाको जिसको दृष्टान्त मिला कि सेवक कैसा होता है!

दास्य होनेका कार्यक्रम गढ़ा जा सकता है. लेकिन सख्य या आत्मनिवेदन तो मात्र भाव ही है, उसकी कोई अलग संहिता नहीं है.

भगवान्को स्वामी तरीके स्वीकारना वह दास्य है. स्नेहसे दास्य स्वीकारना वह सख्य. आत्मनिवेदन अर्थात् आत्म-परमात्मभावसे सख्य स्थापन करना. प्रभुके साथ स्नेहात्मक सेवाके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारका संकोच न रहे; प्रभु मेरे, मैं प्रभुका यह विश्वास टिका रहे, यह है सख्य.

फिर भी साधन दशामें ऐसी निश्चिंतता नहीं आती लेकिन उस विश्वास निश्चिंतता करनेका क्या उपाय? उसके लिये अंतरंग सेवाकी भावना करनी. संयोग-वियोगकी भावना करनी. स्वरूप सम्बन्धी, लीला सम्बन्धी भावना करनेसे ऐसी निश्चिंतता आयेगी.

१०९. महाप्रभुजीके ग्रन्थोंकी टीकाके ऊपर फिर टीका होती है. कारण? महाप्रभुजीके ग्रंथोंमें शब्द थोड़े लेकिन भाव बहुत हैं. इसलिये देशकालानुसार भाव-भावना समझनेके लिये टीकायें लिखी गई हैं.

११०. नामरूपके पात्र गिनें तो उसमें पुरुषोत्तम रसस्थानीय है और अधिक पूजनीय हैं. पुरुषोत्तमको पात्र गिनें तो उसमें यशोदोत्संगलालित रसस्थानीय है और अधिक पूजनीय है. यशोदोत्संगलालितको पात्र स्थानमें गिनें तो उसमें भरा हुवा रस गोपीजनवल्लभ अधिक उत्कृष्ट है. गोपीजनवल्लभको पात्र गिनें तो उसमें श्रीवल्लभहृदय सर्वस्वरूप रस अधिक उत्कृष्ट है. गोपीजनवल्लभ मथुरा पधार सकते हैं लेकिन आचार्यहृदय सर्वस्वरूप मथुरा नहीं पधारता.

।। जलभेद ।।

१. पुष्टिभक्ति अर्थात् जो भक्ति कृपासे उत्पन्न हुई है वह. अर्थात् हृदयमें जो स्नेह प्रकट होता है वह प्रभुकृपासे प्रकट होता है. इस अर्थमें अपना मार्ग 'कृपामार्ग' कहलाता है. ऐसे तो ईसाई धर्म भी कृपामार्ग कहलाता है; लेकिन उसमें पापसे छुटकारा अपने प्रयत्नसे नहीं लेकिन प्रभुकृपा द्वारा होता है; इस अर्थमें कृपा समझानेमें आती है.

२. जिस प्रकारका भक्तिका फूल खिलता है उस प्रकारका बीज हृदयमें बोया हुवा है ऐसा समझना चाहिये. सेवा करते समय सानुभाव हो, आनन्द हो, मन चौंट जाए तो वह पुष्टिभक्तिका फूल है.

३. भक्तिभाव दृढ़ न हो तो वह बारम्बार खंडित हुवा करता है. बीजभाव दृढ़ न हो तो घर छोड़नेकी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये. स्नेहकी बारहखड़ी तुम घरमें पढ़ सकते हो, घरके बाहर नहीं.

४. सेवा तब ही करनी जब फुरसत हो, रुचि हो. कुटुम्ब अथवा व्यापार में अतिव्यस्त हो उसे सेवा नहीं पधरानी चाहिये. कारण सेवामें अति जल्दबाजी करनेसे प्रभुके सुखका विचार नहीं रहता और अंतमें सेवा एक क्रियाकांड बन जायेगी.

५. सेवा नहीं कर सकता उस व्यक्तिको सत्संग करना अथवा तो जो व्यक्ति सेवा कर रहा है उसका परिचारक बन कर रहना चाहिये.

६. पुराने समयमें जो मुखिया भीतरिया थे, वह नौकर नहीं थे

लेकिन वैष्णव होते थे. वे लोग घरमें सेवा न कर पानेके कारण महाराजके परिचारक बन कर रहते थे. महाराज भी इन लोगोंको अत्यन्त मानसे रखते थे और उनकी आज्ञा बगैर कोई भी काम नहीं करते थे.

७. ऐसे भगवदियोंके संगसे सेवाप्रकार बहुत बढ़ गया. बादमें ऐसे भगवदीय मिलने बंद हो गये और विपुल विस्तृत सेवा अकेले निभी नहीं इसलिये नौकरीके लिये कंठी देकर वैष्णव बनानेकी पद्धति शुरु हुई. उसके दुष्परिणामस्वरूप आज नाथद्वारामें बहुत करके मुखिया भीतरिया अवैष्णव कंठी पहरे हुये शैव हैं. भोग धरते समय "ॐ शिवाय नमः" जपते हैं.

८. जात व्यसन और अजात व्यसन का अर्थ ?
भक्तिमार्गीय जीवका प्रकार : (१) दृढ़ भाव (२) अदृढ़ भाव.
अदृढ़ भाव : (क) व्यावृत (ख)अव्यावृत.
अव्यावृत (ख-१) जात व्यसन (ख-२) अजात व्यसन.
अजात व्यसन (ख-२-क) परिचर्या, कथाश्रवण परायण (ख-२-ख) कथाश्रवण परायण.

९. व्यावृत्तिका अर्थ व्यस्तता है व्यापार नहीं. अर्थात् मनुष्य धंधा परिवार रोग अथवा धर्म किसीमें भी लगा हुवा हो. फुरसत ही न मिलती हो तो उसे सेवा नहीं करनी चाहिये.

१०. अव्यावृत्त अर्थात् जिसके पास समय संजोग तथा रुचि की अनुकूलता हो.

११. प्रतिकूलता हो तब तुम्हें अंदाज लगाना पड़ेगा कि किसका पलड़ा भारी है. प्रतिकूलताका अथवा उसको जीतनेकी तुम्हारी शक्तिका.

१२. कथा कीर्तन सब पुष्टिमार्गियोंके लिये अनिवार्य है. सेवा सबके लिये नहीं है.

१३. किस व्यक्तिके मुंहसे कथा सुननी यह 'जलभेद' ग्रंथमें बतानेमें आया है.

१४. कैसे व्यक्तिके सामने कथा कहनी यह 'पंचपद्यानि' ग्रंथमें दिखानेमें आया है.

१५. योग्य सुननेवाला तथा योग्य कहनेवाला हो तो रसाभास नहीं होता, हृदयमें रस स्थिर रहता है.

१६. विषयी लोगोंकी धर्ममार्गमें प्रवृत्ति राग आदिके माधुर्यके लिये होती है. कीर्तनके भावके बजाय उसके रागकी सुंदरताके कारण कीर्तन अच्छा लगता है. श्रीठाकुरजीके दर्शनके बदले "आज केसरका हिंडोला है", इसलिये दर्शनकी अधिक इच्छा होती है.

१७. "सब धर्म प्रभुकी ओर जाते हैं" ऐसा कहनेमें आता है. उसका अर्थ ऐसा नहीं करना कि सब मार्गोंकी खिचड़ी पकाओ. ऐसा कहनेसे तो स्वमार्गमें निष्ठा घट जायेगी. उपरोक्त वाक्य स्वधर्ममें निष्ठा घटानेके लिये नहीं परन्तु स्वमार्गमें निष्ठा दृढ़ करनेके लिये कहनेमें आया है.

१८. एक प्रभु अनंत रूपोंमें, अनंत प्रकारोंसे, अनंत लोगोंको मिलते हैं. भाव और रुचि की भिन्नताके कारण मार्गकी भिन्नता तो रहेगी ही.

१९. मथुराके राजद्वारमें प्रभुने प्रवेश किया, तब हरेकको अलग-अलग

रीतिसे दर्शन हुवे. किसीको सुंदर बालकके रूपमें, किसीको कामदेवके रूपमें, किसीको धर्मरक्षकके रूपमें. ऐसे, हृदयका स्वभाविक भाव प्रभुमें आरोपित होता है.

२०. विषयी : जिसे विषयमें रुचि है और उससे छूटनेके लिये प्रयत्न भी नहीं करता.
मुमुक्षु : जिसे विषयमें रुचि है लेकिन उससे छूटनेके लिये प्रयत्न करता है.

२१. गंधर्वोंके लिये गाना यह सहज धर्म है. इसलिये गानेके कारण उनका ध्यान प्रभुके प्रति न जाता हो तो वह उनका गुण अथवा दोष नहीं है. जिस प्रकार क्रूरता यह शेरका सहज धर्म है दोष नहीं. उनके द्वारा गाया गया भगवद्यशोगान उत्तम ही है. लेकिन परम फल तो अन्य विषयोंका प्रयत्नपूर्वक त्याग करके केवल भगवद्गुणगान करनेसे ही होता है. जबकि गानेकी वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि भगवद्गुणगान गौण बन जाता है. सुंदर गायकोंके मुखसे भगवद्गुणगान सुनते समय तुम्हें एकाग्रता रखनी पड़ेगी कि जिससे तुम उनके स्वर राग ताल के प्रवाहमें बह न जाओ.

२२. हमारे कीर्तनोंमें ताल शब्द स्वर की समप्रधानता है और सबसे ऊपर भाव है. कीर्तन गाते समय कहीं भी शब्द टूटना नहीं चाहिये. शास्त्रीय संगीतमें ताल राग सर्वोपरि है. उसमें शब्द टूटे या गीतका भाव खंडित हो जाय तो भी उसमें दोष नहीं गिना जाता.

२३. प्राचीन कालमें कोई भी शास्त्र (संगीत, नृत्य, चित्रकला) जब पढ़ाते थे तो प्रभुके माध्यमसे पढ़ाते थे, जिससे कलाके साथ-साथ

प्रभुका ज्ञान सहज रीतिसे हो जाता था. खेलमें भी धर्म, ज्ञानकी बातोंका सहारा लेते थे. लेकिन अब तो सब उल्टा है. इसलिये भगवद्कथामें भी लौकिक बातोंको प्रमुखतासे लाना पड़ता है.

२४. वैष्णवोंके ठाकुरजी और बालकोंके ठाकुरजीमें भेद नहीं मानना. भेद वैष्णव और बालकों में दरजेका है, ठाकुरजीका नहीं. क्योंकि महाप्रभुजीने ही वैष्णवोंको श्रीठाकुरजी पधराये थे. और इन ही वैष्णवोंके ही ठाकुरजी बादमें आपश्रीके घर पधारें हैं, जो श्रीगुसांईजीने अपने बालकोंको पधराये थे. इसलिये दोनोंमें भेदभाव नहीं रखना चाहिये.

२५. अपने ठाकुरजी प्रत्येकके लिये सर्वोपरि होने चाहियें. निधिस्वरूपोंसे भी अधिक मानना चाहिये.

२६. अनन्त ब्रह्माण्डोंका नायक तुम्हारे घर बिराज कर तुम्हारी सेवा ले रहा है यह उसकी कृपाकी झुकान है.

२७. हम हर रोज़ रातको सो जातें हैं, लेकिन घरमें विवाह आदि प्रसंग हो तो रातमें भी जगतें हैं. ऐसे केवल सुबहकी ही सेवा हो तो भी हिंडोला अथवा कोई दूसरा उत्सव हो तब श्रीठाकुरजीको संध्या समय जगा सकते हैं.

२८. तामस बढ़ता है तब क्रोध द्वेष आता है. राजस बढ़ता है तब लोभ आसक्ति बढ़ती है. सत्त्व बढ़ता है तो शांति बढ़ती है.

आकर्षण और द्वेष दोनों मानसिक अशांति हैं. जबकि आकर्षण ये सकारात्मक अशांति है और द्वेष नकारात्मक अशांति है.

यह तीनों गुण जगत्की हरेक वस्तुमें होते हैं. सत्त्वगुणके असरमें

बुद्धि निश्चयात्मक होती है. रजोगुणके असरमें बुद्धि संशयात्मक होती है और तमोगुणके असरमें बुद्धि भ्रमित होती है.

२९. गुंजामालामें चारों भाव आ जाते हैं. सफेद रंगका गुंजा = सत्त्वगुण, लाल रंग = रजोगुण, और काला निशान = तमोगुण. धागा = निर्गुणभाव दरसाता है. गुंजामाला धरानेके बाद ही शृंगार पूर्ण माना जाता है. क्योंकि हृदयमें रहे हुवे चारों भाव प्रभुको अर्पण करते हैं. हे प्रभु! क्रोध आये तो वह तेरे लिये ही आये, लोभ वृत्ति तेरे दर्शन-स्पर्शनके लिये ही जागे. प्रेम जागे तो भी तेरे लिये ही जागे. हृदयमें उत्पन्न होते सारे भाव तेरे सम्बन्धी ही हों और तुझे ही वे अर्पण हों.

३०. जैसी प्रभुकी लीला, वैसा भाव जागे. भाव प्रभु अपने हाव-भावसे जगाते हैं. अपने बलसे भाव नहीं जन्मता.

३१. चारों वर्णको शुद्ध करनेकी रीति अलग-अलग होती है. जिस प्रकार सूती रेशमी ऊन के वस्त्रोंको साफ करनेकी रीति अलग-अलग होती है लेकिन जो व्यक्ति चारों वर्णोंमेंसे एक भी वर्णमें उसके संस्कारानुसार न रहता हो तो वे सब म्लेच्छ हैं. म्लेच्छोंसे कोई संस्कार अथवा शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखी जाती, जैसे बहुत गंदा कपड़ा उसे धोओ अथवा न धोओ खास फरक नहीं पड़ता.

३२. वर्णीको वर्णमें रहनेके लिये शास्त्रमें शुद्धि बताई गई है. ब्राह्मणको ब्राह्मण रहनेके लिये जितनी शुद्धिकी जरूरत है उतनी शुद्धि शूद्रको शूद्र रहनेके लिये नहीं.

३३. स्वच्छता जो आंखसे दिखाई दे वह. शुद्धि जो आंखसे देखी

न जा सके. उदाहरणार्थ अस्पतालकी चादर स्वच्छ हो सकती है परन्तु शुद्ध नहीं.

३४. अपरस पालनेमें भी शास्त्र समझदारी बरतनेको कहता है. अपरस जड़तासे नहीं पालनी. उसमें भी बताया है कि दिनकी तुलनामें रात्रिमें आधी अपरस पालनी. रात्रिकी अपरसकी तुलनामें बीमारीमें आधी अपरस और बीमारीकी अपरसकी तुलनामें परदेस अथवा यात्रामें आधी अपरस पाल सकतें हैं. छूट है आज्ञा नहीं. उदाहरणार्थ कुंएकी मेंड ऊपर किसीने थूका हो तो वह पानी घरमें छू जाता है. लेकिन परदेसमें नहीं. देश-कालके अनुरूप अपरस पालनी.

३५. महाप्रभुजीकी आज्ञा हैं कि "देवद्रव्य खानेवाला व्यक्ति पतित है." जो महाप्रभुजीका होगा वह देवद्रव्य नहीं खायेगा. और जो देवद्रव्य खायेगा तो महाप्रभुजीका नहीं रहेगा. महाप्रभुजीने तो सपनमें भी ऐसी अपेक्षा नहीं रखी होगी कि उनके वंशज और वैष्णवों की ऐसी दुर्गति होगी. आज इस अर्थमें मार्गके ५०० वर्ष पूरे हो गये हैं.

३६. श्रीदामोदरदासजी सम्भरवालेके श्रीठाकुरजी सर्व सम्पत्तिके साथ पधारे तब महाप्रभुजीको खबर दी गई कि लक्ष्मीके साथ नारायण पधारे हैं. तब आपश्रीने कहा कि लक्ष्मीको श्रीयमुनाजीमें पधरा कर श्रीनारायणको घरमें पधरा लाओ. आज हमने उस सम्पत्तिको बचानेके लिये श्रीठाकुरजीको सार्वजनिक न्यासोंमें विसर्जित कर दिया है. जबकि किसीने भी अपने बच्चेको अनाथालयमें नहीं ड़ाला.

३७. महाप्रभुजीने सोनेकी कटोरी गिरवी रख कर श्रीठाकुरजीको भोग

धरा, लेकिन वह प्रसाद आपश्रीने नहीं लिया, गायोंको खिला दिया. क्योंकि उसे देवद्रव्य गिना. बादमें जब दूसरी जगहसे द्रव्य प्राप्त हुवा तब पहले कटोरी छुड़ाई, बादमें भोग धर कर प्रसाद लिया.

३८. भगवत्सेवा अथवा कथा का व्यापारिकवृत्तिके साथ सम्बन्ध होनेसे उसमें पुष्टित्व नहीं रहता. उदाहरणार्थ सप्ताहमें यजमान चुनना, श्रीठाकुरजीकी सेवाके लिये न्यास या मनोरथी देखना जिससे कि धन मिले लेकिन टॅक्स् थोड़ा लगे.

३९. द्वारिकाके श्रीकृष्ण और गोकुल मथुराके श्रीकृष्ण इन दोनोंमें भेद नहीं समझना. जिस प्रकार अपने घरका व्यक्ति घरमें (गोकुल) अपने साथ अलग प्रकारका व्यवहार करता है और वही व्यक्ति दफ्तर (मथुरा-द्वारिका)में सीमामें रह कर व्यवहार करता है, ऐसे भेद समझना.

४०. महाप्रभुजी कहते हैं कि प्रभुके सर्व गुणोंका वर्णन करे वह ही पूर्णवक्ता है. प्रभुके ब्रह्मस्वरूपका ही वर्णन करे और उनकी लीला न स्वीकारे अथवा तो मात्र लीला ही स्वीकारे और ब्रह्मस्वरूप न जानता हो तो वह अधूरा वक्ता है. सम्पूर्ण भगवद्गुणगानके ज्ञान बगैर भक्ति दृढ़ नहीं होती.

४१. जिस व्यक्ति पर हमको स्नेह होता है उसके दुर्गुण जानते हुवे भी उस पर स्नेह रहता है. उदाहरणार्थ दूसरेका बालक अगर शैतान हो अथवा झूठा हो तो ऐसा लोग तुरत कह देते हैं. और वैसा ही अपना बच्चा हो तो वह 'नटखट' है अथवा 'चतुर' है ऐसा कहते हैं. ऐसे उसके दुर्गुणमें भी गुणदृष्टि रखते हैं. उसी प्रकार प्रभुकी विपरीत लीला देखते हुए भी अथवा

प्रभु हमें दुःख क्लेश भुगवा रहे हैं तो भी उन पर प्यार थोड़ा सा भी कम न हो तो वह है सच्चा स्नेह.

४२. सामान्य तरीकेसे प्रत्येक कर्म कामनाके साथ जुड़ा हुवा है. लेकिन निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है. जैसे शक्कर बिना दूध शुरुआतमें अच्छा नहीं लगता लेकिन आदत पड़नेके बाद फीका दूध भी अच्छा लगता है, वैसे ही निष्काम कर्मकी मिठास भी लम्बे समयमें अनुभवमें आयेगी.

४३. कर्म न करनेमें भी कामना तो छिपी हुई होती है. उदाहरणार्थ किसीसे नफरत होनेके कारण उसका खून करनेकी इच्छा होती है. लेकिन समाज और प्रतिष्ठा के डरसे वह कर्म अपन् नहीं करते हैं.

४४. ज्ञान-भक्ति लिफ्ट् जैसे हैं. साधक सीधे ऊपर चढ़ सकता है. निष्काम कर्म सीढ़ियों जैसा है. ऊपर चढ़ते देर लगती है.

४५. बहुत निष्काम कर्मी, अति विरक्त मनुष्य जीवनमें कठोर एवं शुष्क हो जाता है. (यह उसके side effects हैं). क्योंकि अपनी जितनी भी निष्कामता और विरक्ति की अपेक्षा हैं वह सब दूसरेसे रखता है. गांधीजीने अपनी पत्नी और बालकों के प्रति काफी क्रूरता बरती थी.

४६. बहुत अपरस पालनेमें क्रोध बहुत आता है. बहुत तप करनेवाले मुनि तुरन्त शाप दे देते थे. कडक अपरस पालनेवाले छू न जायें इस कारण हरेक तरफका संपूर्ण ध्यान रखते हैं. लेकिन मात्र क्रोधसे भी छू जाते हैं इसका ही ध्यान नहीं रखते.

४७. महाप्रभुजी कहते हैं कि जो जीव ब्रह्मसम्बन्ध लेनेके पश्चात्

सेवा न करे उसके बारेमें उसके पुष्टिमार्गीय जीव होनेमें ही शंका है. इसके उपरान्त भी आपश्री आज्ञा करते हैं कि सेवाके कारण घरमें अति क्लेश रहता हो तो सेवा नहीं पधरानी. अपमानजनक वातावरणमें करी हुई सेवा सेव्यको सुख नहीं पहुंचा सकती.

४८. ममता छोड़ी उसीकी अहंता बढ़ जाती है और अहंता छोड़े उसकी ममता बढ़ जाती है. क्योंकि दूसरेका सहारा ले कर पहलेको छोड़ते हैं.

४९. सविकल्प समाधि अर्थात् जिसमें ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय तीनोंका भान रहता है. अर्थात् मैं ज्ञानी समाधि लगा रहा हूं ऐसा भान रहता है और निर्विकल्प समाधिमें वह भान छूट जाता है. ज्ञाता ज्ञेय लुप्त हो जाते हैं. मात्र ज्ञान बाकी रह जाता है.

५०. योगी लोग जब भक्तिमार्गकी बात करते हैं तब वह गड़बड़ पैदा करते हैं. अमुक मूर्तिका ध्यान धरो, बादमें जब मन स्थिर हो जाये तब उसका त्याग करो. वह लोग भक्तिको साधन मानते हैं और प्रभुमें एकत्वको साध्य मानते हैं. ऐसी बातोंको सुन कर तुम अन्य मार्गकी ओर चले जाओगे. अपने लिये भक्ति साधन नहीं है. जिस स्वरूपको ध्यानके लिये पकड़ते हैं वह अंतमें छोड़नेके लिये नहीं पकड़ते लेकिन उसे और अधिक पकड़नेके लिये पकड़ते हैं. यह stepping stone या छलांग लगानेका तख्ता नहीं है.

५१. टॅक्सीका उपयोग नियत स्थान पर पहुंचनेके लिये करते हैं. बादमें उसे छोड़ देते हैं. टॅक्सीके साथ अपना कोई लगाव नहीं है.

लेकिन अपनी गाड़ीका उपयोग पूरी सावधानीके साथ करते हैं. उसको छोड़ देनेके लिये उसका उपयोग नहीं करते हैं. उतना ही फरक योगीकी भक्ति और भक्तकी भक्तिमें है.

५२. भक्त कृष्णका ग्राहक नहीं है परन्तु प्रेमी है. रूपका ग्राहक रूपका लाभ लेनेके बाद रूपवतीको छोड़ देता है जबकि प्रेमी तल्लीन बन जाता है.

५३. पुरुषप्रकृतिके जीव भगवद्लीलाका मज़ा लेनेवाले हैं और स्त्रीप्रकृतिके जीव लीलामें भाग लेनेवाले हैं. जैसे रेसमें प्रेक्षक वर्ग रेसका मजा लेता है और घोड़े मजा लिये बिना रेसमें भाग लेनेवाले होते हैं.

५४. पशु और स्त्रीप्रकृति के जीव आसुरीजीव हैं. लेकिन इसको गलत अर्थमें नहीं लेना क्योंकि महाप्रभुजी कहते हैं कि आसुरीजीव भी प्रभुके सेवक हैं. यह लोग स्वयं मजा लिये बिना प्रभुप्रदत्त कार्यको करते रहते हैं.

५५. प्रथम परिचयमें पुरुषोत्तम 'पुं'भाव दिखायेगा. अर्थात् कि वह भक्तके हृदयमें रहे हुये रसका मजा लेगा. लेकिन अधिक परिचय होने पर उसके गूढ़ स्त्रीभावका परिचय देगा. अर्थात् भक्त भोक्ता बन कर पुरुषोत्तमका मजा ले सकेगा.

५६. बारिशका पानी कुंएमें पड़े, छत पर पड़े, बगीचेमें पड़े, समुद्रमें पड़े तब वह अलग-अलग गुण-दोषवाला हो जाता है. इस प्रकार बरसातका पानी अपने स्वभाव अनुसार नहीं लेकिन पात्र अनुसार फल देता है, वैसे ही वक्ताके भेदसे प्रभुके गुणमें भेद लगता है. यह जलभेदका सार है.

५७. प्रभुद्वारा दिया गया भाव स्थिर रहता है, खेंचनेपर निकल जाता है. भाव प्रभुदत्त है.

५८. जैसे भक्तमें प्रभुसम्बन्धी भाव उत्पन्न होता है, वैसे ही प्रभुमें भी भक्तके प्रति भाव उत्पन्न होता है. प्रभु भी भावुक हैं.

५९. भगवत्कथाकी नौकरी तो अधमाधम है. जो वक्ता बिक जाता है तो बोलनेमें सत् नहीं रहता.

६०. श्रीगोकुलनाथजी दिल्लीसे आगे रात्रिमें यात्रा कर रहे थे तब आपके सेवकने कहा कि कुछ भगवत्चर्चा करो, नींद आ रही है. आपश्रीने तुरंत उत्तर दिया कि नींद उड़ानेके लिये भगवत्चर्चा? इसके लिये तो अपन् लौकिक चर्चा करेंगे. भगवत्चर्चा नींद उड़ानेका साधन नहीं है. इससे जाननेको मिलता है कि भगवत्चर्चा निर्हेतुक करनी चाहिये. उसको सस्ती नहीं बनाना चाहिये.

६१. पाकिस्तानके शरणार्थी डॉ. परमानंदको भारतमें घरकी तलाश थी. उनको वैष्णव होनेके कारण एक सेनेटोरियम्में जगह मिली लेकिन उसको उन्होंने नहीं स्वीकारा, क्योंकि तिलक और वैष्णवता के नाम पर घर नहीं चाहिये. अपना धर्म, सुविधा या प्रतिष्ठा को प्राप्त करनेका साधन नहीं बनना चाहिये.

६२. पुराणोंका स्रोत अगाध है. पौराणिक उसकी नहर जैसे होनेके कारण भगवदानन्द, भगवद्विरह वगैरह गुण मूलस्रोतमेंसे उनमें बह रहे हैं. जिस प्रकार अभिनेता अपने कथानकमें अति तन्मय हो जाते हैं तब वे कथाके वास्तविक पात्रके अनुसार अभिनय करते हैं. इसमें महानता मूल स्रोतकी है. वह (पौराणिक) तो अल्प पात्र ही है. यह होते हुये भी गायकमेंसे भगवद्गुणगान

स्वप्रयत्नसे निकालना पड़ेगा. जबकि पौराणिक, नहर होनेके कारण ये बहता हुवा भगवद्यश बगैर प्रयत्नके अपनेमें प्रविष्ट होगा.

६३. स्मृति मति प्रज्ञा और प्रतिभा ये चारों बुद्धिकी तेजस्विताकी माप हैं.
स्मृति : भूतकालका ज्ञान.
मति : भविष्य कालका ज्ञान, आगे क्या होगा.
प्रज्ञा : भूत भविष्य तथा वर्तमान का ये तीनों बाहरकी वस्तुका भीतरमें प्रतिबिम्ब है.
प्रतिभा : भीतर रहे हुवे ज्ञानकी बाहर अभिव्यक्ति है.

६४. महाप्रभुजीकी आज्ञा हैं कि शास्त्रका अभ्यास करके सेवा करो जिससे कि अन्य भक्ति अथवा मत द्वारा डिगनेका भय कम हो.

६५. श्रीगोकुलनाथजी अपरसमें थे तब एक वैष्णवसे छुए जाने पर आपश्रीने उससे तीन बार पूछा कि तू कौन है? तीनों समय एक ही उत्तर मिला कि "राज! मैं वैष्णव हूं." श्रीगोकुलनाथजीको लगा कि इसको जातिका भान नहीं है लेकिन वैष्णव भाव सुदृढ़ है. इसलिये वैष्णवसे अपन छुवाए नहीं जाते.

६६. वर्णाश्रम धर्मको जान-बूझ कर नहीं तोड़ना चाहिये. लेकिन ज्ञान भक्तिके आवेशमें टूट जाय तो कोई चिंता नहीं.

६७. सेवाके नियमोंका सतत अनुसंधान रखनेसे भाव प्रभुकी ओर जानेके बदले नियमोंमें ही अटक जायेगा.

६८. बहुत सारे व्यक्तियोंमें प्रसंगानुसार भावका दर्शन होता है. नंदमहोत्सवके

समय नाचने लगे, कथा सुनते समय अश्रुपात हो लेकिन घर जाकर इनमेंसे एक भी भाव हृदयमें नहीं रहे. इसीलिये तो कहा है :

भाव भक्ति भादों नदी, आवत ही गहेराय.
गहेराई तब जानिये, जब जेठ मास ठहेराय.

६९. प्रभुका सुख और उनका सौन्दर्य दोनोंका अनुपात जानना चाहिये. उत्सवमें शृंगार जरूर करो लेकिन हर रोज़ अति शृंगार धरना यह प्रभुके लिये हितकर नहीं है.

७०. उसी प्रकार हिसाबकी अपरस तुमको साधक बन जायेगी अन्यथा तो बाधक बनेगी.

७१. अपरस पालनेका कारण यह है कि तुम्हें ऐसी वस्तु अथवा व्यक्तिका स्पर्श नहीं होना चाहिये कि जिससे तुम्हारेमें विजातीय भाव आवे. इस वस्तुका विचार अपरस छोड़ देने पर ही आता है. अस्पतालमें बीमारका ऑपरेशन् स्वच्छतासे होता है तब-तक स्वच्छताका क्या लाभ है यह समझमें नहीं आता है लेकिन यह स्वच्छता छोड़ देने पर जो कष्ट खड़े हो जाते हैं तब उस स्वच्छताकी कीमत पता चलती है.

७२. ब्राह्मणोंको वेदाभ्यास करना चाहिये लेकिन उस वस्तुको समझे बिना उसका अतिरेक हो गया. यह ब्राह्मण भी समझे बगैर गड़बड़ मंत्र बोल जाते हैं और पैसा मांगते हैं. परिणामस्वरूप लोगोंके मनसे उतर गये. पैसा नहीं मिलता इसलिये वेदाभ्यास भी बंद हो गया. अनुपात न समझने पर तो अमृतके कुंडमें भी डूब कर मर जाते हैं और मात्रामें जहर लेने पर जीवन बच जाता है.

७३. समझे बगैर वेद बांचनेवालोंमें शब्दोंकी गुनगुनाहट ही सुनाई देती है. जैसे सार्वजनिक हवेलीओंमें मात्र झांझकी आवाज सुनाई देती है. कीर्तनोंके भावकी मिठास खो जाती है.

७४. धर्म-अधर्मका आधार देश, काल, मंत्र, कर्ता, कर्म वगैरह पर अवलम्बित होता है. कोई वस्तु एक देशमें धर्म होती है, दूसरे देशमें अधर्म. ब्रह्मसंबंधका मंत्र अपरसमें ही बोला जाता है. अपवित्र अवस्थामें बोलनेसे अधर्म हो जाता है. क्षत्रियके लिये युद्ध धर्म है. सन्यासी ब्राह्मण के लिये वह अधर्म है.

७५. अपना सब लौकिक (जन्म दिवस, विवाह आदि) प्रभुमें जोड़ देना चाहिये. शुभ दिनोंमें खानेके लिये दो चीज अधिक बनाओ लेकिन वह श्रीठाकुरजीके लिये बनाओ. श्राद्धमें भी श्राद्धकी वस्तु श्रीठाकुरजीको भोग धरनेके बाद ही श्राद्धका भोजन करवाओ.

७६. श्रीगिरिधरजीने गुसांईजीसे सातों स्वरूपको इकट्ठा अन्नकूट आरोगानेकी दो बार आज्ञा मांगी. आप दोनों समय चुप रहे. तीसरी बार फिर आज्ञा मांगने पर जबाब दिया, "यासों लौकिक बढ़ेगो" और उसका उदाहरण उसी समय साबित कर दिया. श्रीशोभा बेटीजी घरके श्रीठाकुरजीकी सेवासे जल्दी पहुंच कर वहां दर्शन करने पधारे. तब श्रीगुसांईजीने कहा "क्या घरके ठाकुरजीकी तुलनामें इन सात स्वरूपोंकी महत्ता अधिक है?" ऐसे जब पुष्टिमार्ग रूपी रथके सारथी भूतल पर बिराजते थे तब ही गाड़ी पटरी परसे उतर गई थी, तो आजके समयकी तो बात ही क्या करनी!!!

जैसे शादीमें मेलेमें जाते हैं तो लौकिक व्यवहार निभानेके लिये जाते हैं. वैसे ही, घरके बाहर दर्शनादिकमें जायें तो वह व्यवहार निभानेके लिये ही जाऐं. बाकी प्रभु तो घरमें

ही बिराज रहे हैं.

७७. फूलमंडलीमें फूलोंको लोगोंकी तरफ रखते हैं. प्रभुकी ओर तो फूलके डंठल और धागेकी गांठ ही होती है. तो तुम लोगोंको रिझा रहे हो या प्रभुको? ऐसे ही अन्नकूटमें चावलका कोट ऊंचा दिखानेके लिये नीचे खाली बरतन जमाये जाते हैं. रीति मुताबिक खाली बरतन प्रभुको भोग नहीं धरने चहिये लेकिन जनताको खुश करना होता है!

७८. स्नेह थोड़ा हो, सेवा न निभे तो तंत्रोक्त रीतिसे विष्णुपूजन तो करना ही चाहिये. यह भी न निभे तो स्मरण और वह भी न निभे तो शरणागतिका भाव तो निभाना ही चाहिये. जो यह भाव भी न निभे तो इस मार्गमें तुम्हारे लिये कोई स्थान नहीं है.

७९. सास जिस प्रकार बेटीको कह कर बहूको समझाती है वैसे ही जलभेद ग्रंथमें महाप्रभुजी वक्ताके गुण-दोष बता कर श्रोताको समझा रहे हैं.

८०. महाप्रभुजी कहते हैं कि "जो तुम्हें अतिप्रिय लगता हो, जिसको धरनेसे चित्त प्रसन्न होता हो, सरलतासे, सहजतासे, और बिना क्लेशके मिले उसके साथ सेवा करनी".

८१. कर्मांगभूत देवकी उपासनाको महाप्रभुजी उथापते नहीं हैं (विवाहमें गणपति पूजन) लेकिन प्रधानता देवकी हो तो अन्याश्रय होता है. काशी गये और विश्वनाथको नमस्कार करें तो अन्याश्रय नहीं होता लेकिन विश्वनाथको नमस्कार करने काशी गये तो अन्याश्रय होता है. दूसरे देवताओंका अनादर करना यह अपसिद्धान्त है.

८२. श्रीठाकुरजीको शृंगार धराते समय यशोदाजीके भावसे गादी पर बैठना चाहिये लेकिन सेवामें आसन अथवा गादी प्रयोगमें नहीं लानी. लेकिन जपमें आसन होना चाहिये.

८३. श्रीठाकुरजीके सामने जप ग्रहणमें ही हो सकता है. मेरे बालक (श्रीठाकुरजी)को ग्रहकी बाधा न हो उस कारण यह जप श्रीठाकुरजीके लिये अपन करते हैं.

८४. महाप्रभुजीकी आज्ञा हैं कि "जिनसे सेवाप्रणाली नहीं निभती हो उन लोगोंको पंढरपुर तिरुपति बालाजी, वगैरह पूजाप्रवाहमें सम्मिलित रहना".

८५. अ : माहात्म्य ज्ञान — अ+ब+क = उत्तम भक्ति
ब : शास्त्रविहित नवधाभक्ति — अ+ब = मध्यम भक्ति
क : प्रेम सेवा — ब+क = मध्यम भक्ति

८६. अहं धागा है जिसके द्वारा आत्मा अंत:करण देह प्राण इन्द्रिय वगैरह सब बांधे गये हैं.

८७. जो सर्वथा ही अहं न रहे तो प्रभुको निहारना सुनना स्पर्श करना कुछ भी नहीं हो सकता.

८८. अहंका सदुपयोग दुरुपयोग और अनुपयोग हो सकता है.
सदुपयोग : भक्ति करनेसे अहम्का सदुपयोग होता है.
अनुपयोग : ज्ञानी लोग प्रारम्भमें इसका पूरा उपयोग करते हैं. ज्ञान प्राप्त होते ही इसको फेंक देते हैं.
दुरुपयोग : प्रवाही जीव मायामें रचे-पचे रह कर उसका दुरुपयोग करते हैं. अथवा तो जो अहंकारी जीव ऐसा मानते हैं कि

इस अहंकी डोंगीसे मैं संसारसागर पार कर जाऊंगा, वे भी दुरुपयोग कर रहे हैं.

८९. छोटी-मोटी सिद्धि प्राप्त करके सृष्टिका पालनहार बन जानेका अहंकार रखने पर प्रभुके क्रोधको सहना पड़ेगा.

९०. ब्रह्ममें जो सायुज्य साधते हैं उनको ब्रह्म चाहे तो साथमें अथवा अलग भी रख सकता है. जिस प्रकार सागरमें नदी मिले तो भी अपना अलग अस्तित्व रखती है. उसकी उष्णता अलग होती है. उसके तथा सागरके जीव-जंतु अलग होते हैं और जिसे under water current कहते हैं. यह प्रवाह बहुत समय तक समुद्रमें अलग बहता है. प्रभुको फलदान देनेकी इच्छा हो तो प्रभु जीवको पूरी रीतिसे अपनेमें मिला नहीं लेते, द्वैत स्थिर रखते हैं और फलदानकी इच्छा होने पर अलग करते हैं.

९१. भगवान्की गुणासक्तिके कारण होती स्वरूपमें आसक्ति = मर्यादा भक्ति. प्रभुके स्वरूपमें आसक्तिके कारण होती गुणासक्ति = पुष्टि भक्ति.

९२. "वल्लभ रोम रोम रस झलके. जो जा रसके अधिकारी भरत सम्हारे न छलके." जो उस रसका अधिकारी नहीं है उसमें वह रस भरने पर वह छलक जाता है.

९३. बूलामिश्रको पहले ही भगवत्साक्षात्कार हो गया था. पश्चात् वह महप्रभुजीके पास आये. आपश्रीने कहा कि "तुझे तो साक्षात्कार हो गया है, तू यहां क्यों आया है?" उसने कहा कि "साक्षात्कारके बाद तो मुक्ति मिलती है लेकिन मुझे तो भक्ति चाहिये इस

कारण आया हूं.''

९४. पातंजल योगके आठ अंग : मन तथा देहकी शुद्धिके लिये
यम : अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य अस्तेय अपरिग्रह.
नियम : शौच संतोष तप स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान.
प्राणायाम : श्वासको नियमित लेना, छोड़ना अथवा रोकना.
आसन : स्थिर सुखासन पर बैठना, देहका सहयोग लेना.
प्रत्याहार : विषयोंसे इन्द्रियोंको बचाना. अर्थात् देखते हुवे भी न देखना, आवाज होते हुवे भी न सुनना. ऐसे सब कुछ अपनी स्वेच्छासे कर सकना.
धारणा : नाभिकमल, हृदयकमल, मस्तक, नासिका वगैरह स्थानों पर दृष्टि केन्द्रित करनी.
ध्यान : जहां इच्छा हो वहां मनको लगाना.
समाधि : ध्येय ध्यान और ध्याता इन तीनोंका भेद लुप्त होना और अत्यन्त अभेद वृत्तिमें स्थित होना.

९५. भागवत योग अलग है.
धारणा : देशबंधन : मूर्तिको चित्तमें धारण करना. सर्वांगपूर्ण मूर्तिकी कल्पना यह धारणा. उसके एक-एक अंग पर ध्यान देना यह ध्यान.

९६. भक्तिका अंग योग बने तब श्रीपुरुषोत्तम दर्शन हो सकता है. लेकिन योगका अंग भक्ति बने तब मात्र आत्मदर्शन ही हो सकता है.

९७. धारणा अपने अंगमें नहीं लेकिन परमात्माके अंगमें होगी.

९८. भक्तिमें ध्यान धारणा का चक्रवत आवर्तन होता है.

९९. पहले चरणारविन्दका ध्यान करना, बादमें एक-एक श्रीअंगका ध्यान करते-करते मुखारविन्द तक ऊपर चढ़ना. जो चरणारविन्दका ध्यान करते हों और उसमें कोई विघ्न न आये तब ही ऊपर चढ़ना.

१००. अपन्को चित्तकी एकाग्रताके बदले भावप्रवणता पर अधिक भार देना चाहिये.

१०१. पहले रानी बागमें शेरको छोटे पिंजरेमें बंद रखते थे तो इतनी छोटी जगहमें बंद शेर बकरी जैसा बन जाता था. लेकिन अब शेरको बड़े विस्तृत क्षेत्रमें छोड़ते हैं, जिसमें गुफा हो, पानीका झरना हो, टेकरी हो. ऐसी रीतिसे रखनेसे शेर शेरकी तरह जीता है. उसका मन प्रफुल्लित रहता है. उसी प्रकार विरक्तिसे सूखा हुवा मन प्रभुको अर्पण करनेमें प्रभुको क्या मज़ा? लेकिन सेवाप्रणालीमें मनको विस्तृत स्थानमें छोड़ना चाहिये. सेवा शृंगार सामग्री कीर्तन वगैरहमें मन फिरनेसे प्रफुल्लित रहता है. ऐसे प्रसन्न और भावसे सराबोर मन प्रभुको अर्पण करनेमें मज़ा है.

।। उत्सवसूक्ति ।।

।। जन्माष्टमी ।।

जायंश्च जनयंश्चापि तथैवानन्दयन्नपि ।।
अन्तर्यामितयाऽग्राह्यः स्वयमन्नमयादिषु ।।१।।
तदानन्दस्य प्राकट्यं स्वीयलीलैकहेतुकम् ।।
श्रीकृष्णाय नमस्तस्मै ब्रह्मणे परमात्मने ।।२।।

।। जन्माष्टमीके पद ।।

भोर ही नन्दके द्वारे गयी
तहां आंगन खेलत सांवरो प्यारो
नैनन कीनि गति अपलट
तहां आय अर्यो मन ह्वे हकबारो
मान्यो न चाहत आनको हक्क
सो राखिवो चाहत आपहि सारो
दोय बिलायको टंटो लखि
कपि ह्वे चित्त चोर्यो नन्ददुलारो

।। राधाष्टमी ।।

य आराध्यस्त्वात्मरत्या राधयैवैकया सदा ।।
हृदये मामके तौ वै रत्यात्मानौ प्रसीदताम् ।।१।।
निर्हेतुकीर्हि या भक्तिः कृष्णे राधाप्रसादतः ।।
राधायाः हृदि प्राकट्यं भूयाद् भव्याय वर्त्मनि ।।२।।

जय जय जय श्रीराधा ।।
रावलमें रससरिता उपजी गोकुलमें रससिंधु अगाधा ।।१।।
पूरनप्रेम किये पुरुषोत्तम भक्तजननकी पूरी साधा ।।
कर्मयोग अरु ज्ञानयोग की भक्तिपंथ हर लीनी बाधा ।।२।।

रासवृन्द-चन्द्रात्मरतिकी राकासी विलसी जु आधा ।।
मदनमोहन व्रजराजकी शोभासिन्धुकी पायी है गाधा ।।३।।

।। दानैकादशी ।।

मर्यादातः श्रुतौ गीते साक्षिताऽभोक्तृते परम् ।।
अपवादतया पुष्टौ भोक्तृभावं भजन् मुदा ।।१।।
दधिविक्रेतुकामानां गोपीनां मार्गरोधकः ।।
कच्चिन् ममापि मार्गेऽस्मिन् रोधको न भवे किमु ! ।।२।।
रतिः क्रियासु विषयेषु वा या
लोके जनस्येह स्वभावसिद्धा ।।
तस्यास्तु कृष्णाय समर्पणेन
प्राप्तस्तदा तद्विनियोग वर्त्मनि ।।३।।
दानं गृहीतं परमात्मना व्रजे
तत्रातिशक्तस्तु स्वतोऽयमात्मा ।।
तदर्थमात्मैकरतेन याचितं
कृपानुभावो ह्ययमुत्सवोऽभवत् ।।४।।
राज्यन्नु सर्वत्र तदीयमत्र
गेहे व्रजे नन्दसुतस्य तस्य ।।
भक्तिर्हि नः पुष्टिसरस्सु पद्मिनीर्
मत्तो द्विरेफः स्वगृहे हि सेव्यः ।।५।।

।। गोस्वामिपुरुषोत्तमचरणोत्सवः ।।

आचार्यवागक्षरज्ञानशून्या -
स्ते सम्प्रदाये हि क्षरोपमा मताः ।।
ये साक्षारास्तत्परिसेवनं विना ।।
भवन्तु ते चाक्षरवद् न चिन्त्याः ।।१।।
आभ्यामुभाभ्यां समतीत उत्तमः
ततस्तु साक्षात्पुरुषोत्तमोपमः ।।

भव्यैव वागर्थपरा हि निष्ठा
या तेऽद्वितीया जयतात् सदा सा॥२॥

॥ वामनद्वादशी ॥

कृपालोर्हि कृपे चोभे छलने देवदैत्ययोः॥
मर्यादापुष्टिभेदेन याचनावञ्चनात्मिके॥१॥
ऐश्वर्यदानहरणे कामभक्त्योर्हि पूरणे॥
स्वर्लोके स्थापनाद् देवे, दैत्ये स्वस्यांघ्रिस्थापनात्॥२॥
मस्तके महती पुष्टिः भक्ताधीन्यं तयैव हि॥
माहात्म्यबोधनं स्वस्य विभुत्वस्य प्रदर्शनम्॥३॥
शिरस्यंघ्रेः स्थापनं यद् तत्तदाधीन्यद्योतकम्॥
स्वर्गस्य तु क्षयिष्णुत्वात् चरणस्याक्षररूपतः॥४॥
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढस्नेहबीजता॥
पुष्टिभक्तेरुद्भवाय भवेद् वामनजन्मना॥५॥
व्रजाधिपस्य भजने वटोर्जन्मोत्सवो महान्॥
कर्तव्यो निजमार्गीयैः श्रीमदाचार्यसम्मतः॥६॥
भगवान् यदि पुष्टिस्थः फलं मार्यादिकं कुतः?॥
फलं चेदीप्सितं ह्यन्यत् कुतः सेव्यस्य पुष्टता?॥७॥
जन्मोत्सवो वामनस्य कृष्णसेवानुषंगिकः॥
वाल्लभे पुष्टिभजने श्लाघ्यो जीवैः स्ववर्त्मनि॥८॥
कृष्णसेवा सदा कार्या वटोर्जन्मोत्सवेन वै॥
महाप्रभूक्तपद्धत्या कृपासिद्धिस्तु सर्वदा॥९॥

॥ श्रीमद्गोपीनाथप्रभुचरणोत्सवः ॥

प्रमाणं वाक्पतिप्रोक्तं शेषमस्य प्रमान्तरम्॥
प्रमेयस्तु यशोदांके लालितो नन्दनन्दनः॥१॥
तद्भक्त्यार्विभावार्थाविर्भूतोक्तं साधनं परम्॥
भूतले भजनं तस्य फलं नैवेतरद् मतम्॥२॥

पुष्टिमार्गप्रकाशाय येन साधनदीपिका॥
प्रज्वालिता सदा वन्द्यो गोपीनाथः प्रभुः सः नः॥३॥
यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
गोपीनाथमहं वन्दे श्रीमद्वल्लभनन्दनम्॥४॥

गोपीनाथ प्रभु प्रकट वल्लभप्रतिनिधिरूप॥
पुष्टिसाधनाकी समझ जनकवाणी अनुरूप॥१॥
गद्यमंत्रको दान तउ ना माने पुष्टिस्वरूप॥
तो मारगके अन्य सब भये मर्यादारूप!॥२॥
ब्रह्मसम्बन्ध भयो न कहा वल्लभते अनुरूप?॥
भेद करे ताहि जानिये महामूढमतिरूप॥३॥
महाप्रभु अरु उभय सुत मारगस्तम्भस्वरूप॥
पुष्टिमार्गके जानिये आचार्यत्रिकरूप॥४॥

॥ दशाननविजयदशमी ॥

दशेन्द्रियैर्हृतास्माकं रतिः सीतेव रामगा॥
दशाननविजेता त्वं रामो जयविजयी भव!॥१॥
नवधा भक्त्युपास्योऽपि स्वात्मरत्यापहारक-
दशाननाहंकारस्य घातको मोचको महान्॥२॥
रामः सर्वात्मरामोऽपि अहमाधिष्ठितात्मभि॥
तदेकरतिरूपायाः सीतायाः मोचको भवेत्॥३॥
आत्मारामस्य रामस्य सीता ह्यात्मरतिर्मता॥
तस्यात्मजयिनो जय्यो तत्सीतापहरः खलः॥४॥
विजयादशमी तस्य रामस्य विजयाय वै॥
भगवान् सर्वभक्तेषु निजेषु जयतात् सदा॥५॥

॥ रासपूर्णिमोत्सवः ॥

परस्य चात्मरामस्य यात्मबाहुल्यभेदतः॥

रिरंसा सृष्टिरेषा वै रासः शक्तिप्रभेदतः ॥१॥
अविद्यातो हि सृष्टानां मिथोरमणमुग्धता ॥
विद्यातस्तत्स्वरूपैकरतिः स्याद् मुक्तिदायिका ॥२॥
कदाचिद् भूतले तस्य लीलायां या रतिः परा॥
तत्सेवाप्रचुरा भक्तिः गेहे वृन्दावनोपमे ॥३॥
पूर्वं मुरलिकाकृष्टैः साकं तेनाथ साम्प्रतम् ॥
तदास्यवाचैवास्माकं वाक्पतेरनुगामिनाम् ॥४॥
रासोत्सवोऽयं संवृत्तो फलरूपोऽत्र वर्त्मनि ॥
शृंगाररसरूपो वै जातो भक्तिरसात्मकः ॥५॥
श्रुतिवृन्दावनचन्द्रः स्वात्मरत्याह्लादनादतः स्वीयान् ॥
भूमावुदितः स्वास्यवाग्वेणुनाह्वयति वाल्लभान्वै निखिलान् ॥६॥

॥ धनत्रयोदशी ॥

धन्या त्रयोदशी धन्याः वयं चापि मुदा गृहे ॥
धनं नीलं मुखं दुग्धस्नातं शुभ्रमिवाद्य वै ॥१॥

॥ रूपचतुर्दशी ॥

सर्वरूपोद्गमो योऽसौ सर्वरूपाश्रयोऽपि च ॥
सर्वरूपलयाधारो भक्तानां भावरूपधृक् ॥१॥
तस्य रूपोज्वलीकारोऽभ्यञ्जनेन सुभावतः ॥
मनोरथाधिरूढं तं नौमि भावात्मकं विभुम् ॥२॥

नाम रूप कर्म धरि एक जो विलसि रह्यो ॥
राधा सी रूपसी तापे जु लुभानी है ॥१॥
ताकों हु लुभावनी भक्ति जो लगत तातें ॥
रूपचौदसकों भक्तिरूपा हम जानी है ॥२॥
दैवीजनरूपको निखार पुष्टितें होत ॥
प्रभुरूप निखरे पुष्टिभक्तिने ये ठानी है ॥३॥

वल्लभकृपातें कछु जानि सो लिखी है आज ॥
श्यामअंग अभ्यंगरीति ये मानि है ॥४॥

॥ दीपावली ॥

वा क्प ते र्व च न दी प मा लि का हरतु तमो निज वर्त्मनि समस्तम् ॥
वितरतु पुष्ट्या कर्मबोधभक्तिं कृतिमतिरतिषु सदैकतानतां वै ॥१॥
दीपाद् दीपावली चैषा रामराज्याभिषिक्तता ॥
सर्वाशुभतमोहन्त्री सर्वमंगलकारिणी ॥२॥

॥ गिरिगोवर्धनान्नकूटोत्सवः ॥

अनेकत्वं यद्वै बहुभवनसंकल्पजनितम्
अतः क्व स्यात्तस्य स्वपरइति भेदोत्थधिषणा ॥
तथाप्यस्मान् स्वीयान् इतरशरणाद् वारयति यः
स वै कृष्णोऽस्माकं गतिमतिरतेरेकविषयः ॥१॥
इन्द्ररूपस्वाबाहुभ्यां धृत्वा शैलं स्वयं मुदा ॥
स्वीयान् यद् गोपयामास रक्षकोऽभूद् गिरिस्ततः ॥२॥
पुष्टिसृष्टौ तु नो बाहू बाहुभ्यामुद्धृतो हि यः ॥
तद्रूपधारकोऽन्यत्र बाहुरूपेन्द्ररक्षणात् ॥३॥

॥ गोपाष्टमी ॥

अजनि नन्दात्मजतया व्रजे गाश्चारयन् मुदा ॥
मद्हृद्यन्तःस्थित्वा कृतिमतिरतिचारको भवेत् कच्चित् ॥१॥

॥ प्रबोधिन्येकादशी ॥

हठाद् वृन्दां वोढुं ह्यभवदिह योऽश्माहमपि तम्
वृणे भर्तृत्वेन स इह मम भृत्यस्य भविता ॥
सदा भर्ता चैकः छलबलकृतात्मीयकरणात्
प्रपत्या भक्त्या वा जगति तव स्वच्छन्दविहृतेः ॥१॥

योगनिद्रोत्थितः कर्म भूत्वा यस्तत्फलप्रदः ॥
लीलया निद्रितस्यैव भक्त्या जागरणं मुहुः ॥२॥
सृष्ट्यादौ श्रुतिभिर्यद्वद् भक्तैस्तु भजनाय वै ॥
भक्तिरन्योन्यसापेक्षा तस्य लीलात्मिका मता ॥३॥
सर्वतो भद्ररूपं तं स्थापित्वा सुमण्डपे ॥
सर्वतो भद्ररूपेऽद्य भद्रकीर्तिं वयं नुमः ॥४॥

॥ चतुर्थात्मजोत्सवः ॥

जय जय जय श्रीगोकुलनाथः
तातोदितनिजपथकृतगाथः ॥
रक्षकतुलसीकाष्ठसुमालः
भक्तसुमस्तकतिलकसुभालः ॥१॥

जय जय श्रीगोकुलेश पुष्टिमार्ग राख्यो शेष ॥
शरणागति-भक्ति-माला राखी सब कण्ठदेश ॥२॥

॥ हिलग ॥

माखनसो मन चोरि लियो
चोरे जु वसन हिय आव्रनके ॥
नैनको चैन चुराय लियो
सपनेहु न आवत आवनके ॥
तुम प्रानन क्यों न चुराय कहो
ढंग जानत हो तरपावनके ॥
भयो नेहको ठाकुर निठुर महा
मन लागि रह्यो मनभावनके ॥१॥

॥ श्रीमत्प्रभुचरणोत्सव ॥

श्रीमद्विट्ठलनाथनामजगदुद्धारैकहेतुः परः

राधाभावविभावभावनरतः श्रीवल्लभस्यात्मजः ॥
तातोद्दिष्टपथप्रचारचतुरः साक्षाद् दयामूर्तिमान्
त्वज्जन्मोत्सवशालिसर्वहृदये निष्ठां दृढां भावय ॥१॥

श्रीमद्विट्ठलनाथ! दयालो अतिदीने दुरितं दमय ॥
कलिमलिनायां मत्यां हरिनलिनाघ्रिरतिं दृढय ॥१॥

॥ दामोदरदासोत्सव ॥

दाम्ना बद्धस्य स्वास्येन नाम्नाबद्धस्य यस्य वै ॥
तत्प्रेम्णा 'दमला'ख्याय पुष्टिमार्गाद्यगामिने ॥१॥
श्रीदामोदरदासाय वल्लभस्यानुचारिणे ॥
नुमो भक्त्योत्सवे तस्य पुष्टिभक्त्यनुगामिनः ॥२॥

॥ वसन्तपञ्चमी ॥

मधुमासो माधवस्य पञ्चम्येतस्य माधुरी ॥
लीलायाः ललितायाश्च वर्धापनदिनं महत् ॥१॥
राजसैः सात्त्विकैर्वापि तामसैर्निर्गुणैस्तथा ॥
रक्तश्वेतश्यामपीतवर्णैः भावैः विभावितः ॥२॥
अक्षरब्रह्ममाहात्म्यचरणाच्छादनेन हि ॥
मुखारविन्दमाधुर्यप्रकाशनपरो हरिः ॥३॥

॥ श्रीनाथोत्सव ॥

पुष्करसंहितोक्तो वै परार्थार्चनविग्रहः ॥
गिरिदेवालयाद् यातः स्वगेहे वाल्लभे पुरा ॥१॥
सर्वस्वस्वार्थसेवायां विनियोगरुचिर्विभुः ॥
मर्यादात्यागतः पुष्टिमार्गे सेवासमुत्सुकः ॥२॥
कदा देवलकानां हि कारातो गोकुलं पुनः ॥
नन्दगेहे स चागत्य सेवां स्वीकरिष्यति! ॥३॥

॥ होलिकोत्सव ॥

प्रह्लादमंगलायैव होलिकादहनेन च ॥
माहात्म्यगोपनेनापि रसिको रंगरञ्जितः ॥१॥

हमको तुम एक अनेक तुम्हे,
तुमको तुम एक अनेक लसो
हम एक लसे न अनेकनमें
तुम एक अनेक भये विलसो
हम एक जु रंग रंगे न रहें
जगके सब रंगनमे सरसो
हमपे अपनो रंग डारि भजे
हमरे रंग श्याम फँसो न फँसो ॥१॥

॥ रामनवमी ॥

ब्रह्माद्वयविवक्षायां रामात् 'सु'प्रत्ययो भवेत् ॥
तद्भक्तद्वित्वे वाच्ये तु प्रत्ययश्चौ चिकीर्षितः ॥१॥
रामस्यैकस्य लीलातो बहुत्वे प्रत्ययस्तु 'जस्' ॥
रामरामौ च रामाश्च वेदान्तस्यैव निर्णयः ॥२॥
रामोराममित्यादि स्वरूपाद्वयद्योतकम् ॥
रामौप्रभृति तस्यैव द्वैतलीलाविबोधकम् ॥३॥
रामाश्चेत्याद्यशेषाणां बहुत्वं नामरूपयोः ॥
आविष्कृतं स भगवान् रामो जयतु सर्वदा ॥४॥

॥ महाप्रभूत्सव ॥

वचोऽनुगामिन्यौ भवतां वाक्पतेरावर्योमती ॥
श्रीकृष्णज्ञानदोक्तार्थे रती स्यातामनश्वरे ॥१॥
भक्त्याचारोपदेशानुसारिण्यौ चावयोः कृती ॥
तदावां हि कृतार्थौ तु भूयास्व कृपया विभोः ॥२॥

वाक्पतिर्वल्लभोऽस्माकं वाग्गतिस्तस्य वाक्षु वै ॥
वाग्रतिस्तु तदुक्तार्थे श्रीकृष्णे परमात्मनि ॥३॥
पूर्णानन्दपूर्णकामवाक्पतिविबुधेश्वरो -
त्सववर्धापनमिदं मुदा मोदाय भूरिशः ॥४॥

अशेषदोषशामकं स्वभक्तभावपालकम्
कृपाकटाक्षवृष्टिना स्वपुष्टिसृष्टितारकम् ॥
वदान्यवृन्दवन्दितं सदैव कृष्णभावकम्
वदामि नाम वल्लभस्य वेदवैद्यवेदकम् ॥५॥

॥ अक्षयतृतीया ॥

युगादेरुत्सवेस्मिन्वै पुष्टिमार्गयुगादिता ॥
निजगेहं विनापि श्रीनाथकीर्तनसेव्यता ॥१॥

॥ नृसिंहचतुर्दशी ॥

जडस्तम्भोद्भिन्ना दिव्या कापि नृसिंहता ॥
सर्वं खल्विदं ब्रह्म प्रह्लादहृदयं गता ॥१॥
ईश्वरोऽन्नाहमेवेत्यासुराशयनिवारिणी ॥
सास्मानवत्वद्यापि सततं मोदकारिणी ॥२॥

॥ ज्येष्ठाभिषेक ॥

ज्येष्ठानक्षत्रज्येष्ठत्वं न स्वरूपकृतं मतम् ॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन पुंसूक्तेन परः पुमान् ॥१॥
सर्वदेवज्येष्ठतया यतोऽस्मिन्नभिषिच्यते ॥
नक्षत्रेषु ततश्चास्य ज्येष्ठत्वं मे मनोगतम् ॥२॥

॥ रथयात्रोत्सव ॥

पुष्टिमार्गे गृहाधीशो गृहरूपव्रजे स्थितः ॥

विह्वलमनोरथारूढश्चौत्सुक्येनाद्य लक्ष्यते ॥१॥
स्वस्मै समर्पितं यत्तत् स्वभोग्यं रुचिरं नु किम् ॥
स्वीये गेहेऽतएवायं न ग्रामं द्रष्टुमिच्छति ॥२॥
प्रदर्शनार्थी ग्रामे यो लाभपूजापरायणः ॥
निजाचार्यलोकत्यागदिनोत्सवपरायणः ॥३॥

सगरे जगके जे नाथ तोउ ॥
जब छोटी पुरीन्के नाथ बने ॥१॥
तब नाथको नातो निभायवेकों ॥
रथपे चढि गलियन घूमे घने ॥२॥
अब सेवकगेहके नाथ बनि ॥
निजगेहके नेहसों हो जु सने ॥३॥
कहो खोरिन कैसे घुमावें तुम्हें ॥
घुमहु यहां आंगनमें अपने ॥४॥
तुम माथें बिराजो निधि बनिके ॥
तनुवित्तजसेवाके नेह ठने ॥५॥
अब गामकी खोरिन खोरिनमें ॥
बिकते से माल जु काहे बने ॥६॥
सर्वस्व कहायके वल्लभके ॥
बाजारमें देखो धरे सबने ॥७॥
निठुरे निज मैंड़को तोड़ि रहे ॥
नहीं जाय बसो क्यों नंदभवने ॥८॥

॥ कसुंभाछठ ॥

पुष्टिवृष्टेर्वारिवाहोपमश्रीतातलक्ष्मणः ॥
मेघागमोत्सवस्तस्य जन्मोत्सवतया मतः ॥१॥
स्वानुग्रहसुवृष्टेर्हि स्वानुभावप्रकाशकः ॥
कुसुम्भवर्णवस्त्रं यद् धृत्वास्मत्प्रभु राजते ॥२॥

॥ हिंडोला ॥

नन्दगेहे तथा वृन्दावने गोवर्धने तथा ॥
यमुनापुलिने कुंजे दोलायां दोलितो विभुः ॥१॥
चतुर्णामपि स्थानानां भक्तगेहे विभावना ॥
दोलयान्दोलिते कृष्णे भावनान्दोलनेन हि ॥२॥

॥ पवित्रारोपण ॥

दुर्लभः साधनैर्यस्तु सुलभो वरणेन वै ॥
वरणानुभावकं चाद्यगुरुं कृष्णं वयं नुमः ॥१॥
वाल्लभास्ते वल्लभस्य भजामस्त्वां पवित्रया ॥
भक्त्यैव स्वधनेन त्वां न धनाय कदाचन ॥२॥
सेवायै दर्शनं तेऽस्तु न सेवादर्शनाय हि ॥
पवित्रान् कुरु त्वं चास्मान् पवित्राधारणेन वै ॥३॥

जीवेनैवानुष्ठितस्य देवपूजादिकर्मणः ॥
सर्वव्यापिविष्णुता वै **'यज्ञो विष्णुः'** श्रुतौ मता ॥१॥
ब्रह्मण्यर्पितस्यात्र ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
ब्रह्मणे चार्पिते नूनं भवेद् निर्दोषब्रह्मता ॥२॥
निर्दोषं हि समं ब्रह्म कृष्णकण्ठोक्तमेव हि ॥
तेन तत्सेवनायात्र स्वरूपयोग्यतात्मकम् ॥३॥
तनुवित्तजसेवातः स्वगेहाधिष्ठितस्य वै ॥
प्रभोश्चोपभोगार्हकृत्पवित्रोत्सवो मतः ॥४॥
श्रीवल्लभोक्तमार्गस्य सर्वपावित्र्यकारिणः ॥
प्रारम्भकदिनस्यैतद् वर्धापनमिदं शुभम् ॥५॥

॥ रक्षाबन्धन ॥

कृष्णप्रपत्तिरस्माकं ''श्रीकृष्णः शरणं मम'' ॥
रक्षां बध्नामि ते हस्ते रक्षितो रक्ष मां सदा ॥१॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

।। भक्तिसूक्ति ।।

(मंगलाचरणम्)

श्रीमदाचार्यकृपया लिखिताः भक्तिसूक्तयः ।
सौकर्येणावतरणं प्रभोर्बुद्धेर्भवेद्हृदि ।।

१. भूमि पर जन्म लेनेके कारण जो देह मिला वह मृत्यु आने पर छिन जाता है. परन्तु इसी देहसे की गई भगवद्भक्ति जीवात्मा और परमात्मा के बीच एक अमर घनिष्ठता भी तो सिद्ध कर सकती है.

२. सांसारिक राग-द्वेषके भावोंको घटाने या मिटाने का काम भगवद्भाव करता है. आध्यात्मिक उदासीनताको घटाने या मिटाने का काम भगवत्सेवा या भगवत्स्मरण भी करते हैं. अतः भगवत्सेवा-कथामय जीवन गढ़ो ताकि चित्तमें उदासीनता घर न कर बैठे. भगवद्भावको आत्मसात कर पाये तो सांसारिक राग-द्वेषोमें उलझनेकी रुझान घट जायेगी.

३. इच्छाशक्ति घटानी हो तो इच्छाओंको बढ़ाना एक उपाय है. इच्छाशक्ति बढ़ानी हो तो इच्छाओंको घटाना ही एक उपाय है.

४. कामना और भावना के बीच अन्तर यह है : कामनाशक्ति अन्ततः घटानी ही हो तो कामनाओंका बढ़ावा दो. भावनाशक्ति परन्तु भावनाओंको बढ़ावा देनेसे घटती नहीं.

५. अहंता-ममतासे मुक्तिका अनुभव, अहंता-ममतात्मिका संसृतिमें भी

उनके भगवत्समर्पणद्वारा सहज शक्य है. अहंता-ममताके भगवत्समर्पणके बिना तो ममतासे मुक्तिमें अहंता जोर पकडेगी और अहंताकी संसृति छद्मसे चालू रहेगी.

६. हम कितने दुर्भागी हैं की खुदके घरमें भगवत्सेवा निभाके भगवत्सुख पानेकी निष्ठा खो बैठे हैं! व्यावसायिक हवेलिओंकी विकृतिके कारण मिलते क्लेशको सहनेकी लेशमात्र आवश्यकता अपने मार्गमें नहीं है फिर भी उसे सहन करनेकी मनोवृत्ति कितनी बढ़ गई है?

७. आर्थिक मनोभावोवालें मनोरथ हमारे नयन-मनको आंज तो सकते है पर मनको मांझ कर भक्तिके लायक शुद्ध नहीं बना पाते. नयन-मनको आंजनेवाली भगतिका मजा तो हमने पर्याप्त ले लिया पर भक्तिभावका पात्र बन पाये वैसे मनको मांझ पानेका समय आ नहीं गया है क्या?

८. भगवत्सुखके विचारवश की जाती भगवत्सेवाको परद्रव्यकी अपेक्षा सता सकती है परन्तु भगवत्संतोषके विचारवश की जाती भगवत्सेवा लेशमात्र परद्रव्यकी अपेक्षा रहती नहीं है. अपने सेव्यप्रभुको सुख या संतोष में किसका महत्त्व अधिक है? यदि भगवत्सुखका महत्त्व अधिक हो तो भगवान्को लक्ष्मीनाथ माननेके बजाय लक्ष्मीदास मानना पड़ेगा! यदि भगवत्संतोषका महत्त्व अधिक हो तो वे निश्चय ही लक्ष्मीनाथ हैं! पुष्टिपुरुषोत्तम लक्ष्मीदास हैं या लक्ष्मीनाथ!

९. अधिकारके विवेकके बिना ब्रह्मसंबंधकी खरीदफरोख्त झूंठे निदान करके असली ओषधी देनी जैसी कथा है. ओषधिका दुर्व्यय! इस जन्ममें न सही, आनेवाले जन्ममें दीक्षा लेनेवाला भगसत्सेवापरायण बन जायेगा निदान करनेवालोंको धीरजके साथ यह कह दो

कि "महाराज! तब आप अगले जन्ममें ही ब्रह्मसंबंध प्रदान करनेकी कृपा करो!" क्या आपको आनेवाले जन्ममें वल्लभकुलमें ही जन्म लेनेका आत्मविश्वास नहीं है? संबंध बांध लेनेकी धांधल तो कामी पुरुषोंको होती है. प्रेमी पुरुषमें तो निष्ठा होती है कि इस जन्ममें न सही अगले जन्ममें प्रियतमको पा लूंगा. वैसे तो सहस्र-परिवत्सरके अन्तरालमें गोस्वामी महाराज और वैष्णव अनुयायीओंके कितने जन्म हुअे होंगे? एक जन्मकी सो वर्षकी आयुष्यके अंदाजसे गोस्वामी महाराजको गणित आता हो या नहीं कॅल्क्युलेटरसे सहज ही ज्ञान ब्रह्मसंबंध देनेकी धांधल करनेवालेको सिखाया जा सकता है!

१०. बिकते प्रसादके स्वादलोलुपोको संतुष्ट करना चाहते हवेलीओंके न तो महाराजों और न ट्रस्टियों में महाप्रभुको कैसे संतुष्ट करना इसकी परवा है. पुष्टिप्रभुको संतुष्ट करनेवाली सामग्री तो भक्तिभावपूर्वक स्वयं सिद्ध कर भोग धरी जाती हो तभी हो सकती है. भावहीन तनुजासेवा करनेवाले कर्मचारी, स्वादलोलुप वित्तजा सेवा करनेवाले दर्शनार्थी और दोनोंके बीच दलालीका काम करनेवाले गोस्वामी बालक समाधानी या ट्रस्टी इनके कॉर्पोरेट् क्षेत्रमें धरी सामग्री प्रभु अरोगते हो तो उनके भीतर पुष्टिप्रभु होनेका स्वाभिमान खण्डित हुआ जान लेना चाहिये. भजनीय भगवान्में पुष्टिप्रभु होनेके भावके तिरोधानसे अधिक महाप्रभु, जो पुष्टिभक्तिके प्रवर्तकका असंतोष और क्या हो सकता है?

११. महाप्रभु वल्लभने प्रपंचको सत्य और अहंता-ममतात्मक संसारको मिथ्या माना. हम वाल्लभोंने दुनियाकी परवा किये बिना अपनी-अपनी साम्प्रदायिक अहंता-ममताको ही परमार्थ मान लिया है!

१२. एक भोगी होनेके कारण रोगका भोग बना. दूसरा रोगी होनेके

कारण स्वार्थभोगके सपने मिटा नहीं पाता भगवद्विनियोगके बिना. भगवद्भक्त न तो विषयभोगी होता है न विषयत्यागी. वह तो भगवद्विनियोगी होता है प्राप्तभोगका निर्मम प्रसादोपभोगी.

१३. अपने घरमें की जाती भगवत्सेवाका दूसरेके सामने प्रदर्शन तो मानवीय सहज दुर्बलता है. अतएव भगवत्सेवाके प्रदर्शनके व्यवसायकी हवेली खोल लेना भी बहोत सहज मानवीय दुर्लभता है. क्योंकि नोकरी या धंधा कर पानेकी योग्यता न होनेपर यह शतप्रतिशत प्रत्युत अधिक लाभदायक धन कमानेका साधन है. ऐसे भगवत्सेवाके प्रदर्शनोंमें प्रदर्शनकारियोंमें भक्तिभावके ही दर्शन बहोत दुर्लभ दु:साध्य तथ्य है!

१४. आत्मानुगामिनी बुद्धि चिन्तन करेगी चिन्ता नहीं, मनोनुगामिनी बुद्धि चिन्ता करेगी चिन्तन नहीं. चिन्तारहित भक्ति तो परमात्मानुगामिनी बुद्धि ही कर पाती है. परमात्मानुगामिनी बुद्धि तो आत्माकी चिन्ता भी नहीं करती "**जो मेरो यह लोक जायेगो और परलोक नसायेरी नन्दनन्दनको तोउं न छांडो, मिलूंगी निशान बजाय री!**"

१५. सार्वजनिक हवेली भी आश्वासन तो हमें पुष्टिभक्तिका देती है परन्तु अनुभूति प्रवाहवृत्तिओंकी. फिर भी एक-दूजेकी ऐसी वंचनामें रचे-पचे हम आत्मवंचना ही कर पाते हैं. परमात्मवंचना कर पाना तो शक्य ही नहीं.

१६. यह संसार उत्ताल तरंगोका सागर है. भक्तिके तटपर कभी हम चिन्ताग्रस्त हो जायें तो ये तरंगें खींचकर गहरे सागरकी तरफ बहा ले जाती हैं. और गहरे सागरमें परमात्माकी कृपापूर्विका उद्धारक क्षमताके बारेमें निश्चित होनेपर डूबानेके बजाय ये ही तरंगें भक्तिके तटपर भी ला पटकती हैं. कदाचित् तैरना न

आता हो तब भी.

१७. शौचालयका मग्गा भी पानी पीनेके काममें वापरा तो जा सकता है, पात्र तो है ही न! परन्तु उससे पानी पीनेकी पात्रता हर कोई नहीं स्वीकार कर पाता. अत: पात्र होना केवल पात्रता नहीं. अर्थार्थी लोकार्थी भक्तिका स्वरूपत: पात्र हो सकता है परन्तु भक्तिकी क्रियामें जुड़ पाये ऐसी पात्रता उसमें होती नहीं.

१८. शारिरीक या पारिवारिक अहंता-ममताके अध्यासोंके कारण भक्तिके बीजभावके अंकुरणमें कुछ विघ्न या विलंब तो होता होगा, परन्तु, भक्तिकी व्यावसायिक नौटंकीमें दर्शन-ग्राहक या अभिनेता-विक्रेता बन जानेके चक्करमें महाप्रभु वल्लभके बीजभाववृद्धिके उपदेशोंको सुनने-स्वीकारनेमें भी बाधा पहोंचती है.

१९. सागरकी विशालतामें नदियें खुदके नाम-रूप-कर्मोंको समर्पित करने निरन्तर बहती रहती हैं. सूरजके तीव्र तापमें सरोवर भी, परन्तु, अपने नाम-रूप-कर्मोंको नि:शेष बननेपर भूमिमें एक भद्दा गढ्ढा ही केवल रह जाता है. अपनी अहंता-ममता परमेश्वरको समर्पित करनी है या नष्ट करनी यह समझना पड़ेगा. यहां जाकर केवलाद्वैत या शुद्धाद्वैत का प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन जाता है.

२०. पुष्टिमार्गमें व्यावसायिक मनोरथोंके दर्शनार्थ चलती भगदौडमें संभव है कि हमें कुछ दर्शनसुख मिलता हो पर पुष्टिप्रभुका भजनानन्द गायब हो जाता है यह तो नग्नसत्य है.

२१. भगवान्के माहात्म्यका बोध हमारी अधूरी समझको पूरी बनाता है पर वह भक्तिमें विकसित न हो पाये तो भगवान् अधूरे ही रह जाते हैं. भक्तके कारण परमेश्वर भगवान् बनता है

और भगवान्के जीवात्मा भक्त.

२२. सौ रूपयेकी कीमतकी कोई वस्तु खरीदनी हो तो सौ रूपयोंकी एक नोट या दस रूपयोंकी दस नोट अपने पास होने पर कोई फर्क नहीं पड़ता. ऐसे ही किसी निश्चित एक साध्यके लिये कोई सम्प्रदाय एक साधना या अनेक साधना पर भार देता हो उसमें फर्क नहीं समझना चाहिये.

२३. विषयासक्तिके साथ संघर्षमें जुटना है या भगवदासक्तिके हेतु समर्पित हो जाना है? प्रथम कल्पमें **''विषयो भगवान् विषयता मायाजन्या''** इस लीलाभावको भूल जानेका खतरा है. दूसरे कल्पमें भगवदासक्तिमें तन्मयता उभरती है. विषयवैराग्य नहीं प्रत्युत भगवद्भजनोपयोगितया ही केवल विषयानुराग बन जायेगा.

२४. हमारा मन भी एक पालतू कुत्तेकी तरह है. जब हम अपने भगवद्भक्तिके भावमें जागरुक हों तब उसे सोने देना चाहिये. परन्तु जब हम अपने भगवद्भावमें सजग न रह पाते हों तो भावहीनताकी अन्धेरी रातमें वह दिनमें सोया हुआ न होगा तो भली-भांति सजग रह कर अन्याश्रय अनाश्रय और बहिर्मुखता के नक्तंचरोंको भोंक कर भगा भी न पायेगा.

२५. परमेश्वरके भयके कारण कदाचित् पापाचरणसे बचा जा सकता होगा. परन्तु परमेश्वरके प्रति प्रेमके बिना भक्तिभाव भरी भगवत्सेवा तो सम्भव ही नहीं.

२६. धर्मोपदेश समझ कर धर्माचरण सुचारु रूपसे हो सकता है यह पुराने जमानेकी कथा है. वर्तमानमें नितनये धर्मोपदेशकोंकी बढोतरीके युगमें धर्माचरणके स्थानपर धर्मश्रवणकी महत्ता बढाई जा रही

है. वस्तुत: धर्माचरणमें परायण व्यक्तिको इतना अधिक धर्मश्रवण आवश्यक नहीं. सुहागरात मनानेवाले वरवधूको पोर्नोग्राफीकी मूवी आवश्यक नहीं.

२७. भगवत्सेवा भगवान्‌के प्रति भक्तोंमें प्रकट होता भक्तिका अनुभाव हो तो बडी उत्तम कक्षा है. भगवत्सेवा भक्तिभावको हृदयमें उभरनेके उपायके रूपमें हो तो वह मध्यमकक्षा है. भगवत्सेवा सेवाप्रणालीकी पुस्तकोंमें दरसाई रीतिके केवल निर्वाह या अनुसरणार्थ हो तो वह आदिमकक्षाकी बात है. परन्तु भगवत्सेवा किसी लौकिक प्रयोजन धनोपार्जन अनुयायिवर्धन या सम्प्रदायके प्रचार-प्रसारार्थ हो तो ऐसी भगवत्सेवाका भक्तिभावके साथ कोई सम्बन्ध न होकर हमारी वैयक्तिक सामाजिक या साम्प्रदायिक अहंता-ममताका पोषण ही है जो हर सूरतमें मिथ्या ही है.

२८. आत्मानुभूतिरूप धनुषके दो छोर हैं. एक अहंता और दो ममता. इन दो छोरोंके बीच बंधती स्नेहकी डोर. वह बंधी ही न हो अथवा ढीली बंध गई हो तो आत्मबाण लक्ष्यवेध कर नहीं पाता. आत्मानुभूतिमें अहंता-ममताके दोनों छोरके बीच स्नेहकी डोरको विरुद्ध दिशामें खींचनेका एक तनाव होता है वह न हो तो स्नेहडोर अवश्य बाणको फेंकनेमें अक्षम बन जायेगी. जितना तनाव ज्यादा उतनी स्नेहकी डोरकी बाणको फेंकनेकी सामर्थ्य ज्यादा. भूलना नहीं चाहिये कि आत्मबाणका लक्ष्य तो पारमात्मिक रति ही है.

२९. ब्रह्मसंबंधसे कृष्णसेवा कृष्णभक्ति है. कृष्णसंबंधसे ब्रह्मज्ञान नहीं है.

३०. महाप्रभु वल्लभ अहंता-ममताके संसारको 'मिथ्या' क्यों कहतें

हैं? क्योंकि जो इन्द्रियोंके विषय वस्तुत: सुखप्रद नहीं उनमें सुखकी भ्रांति इन्हींके कारण होती है. जो इन्द्रियके विषय वस्तुत: दु:खप्रद नहीं होते उनमें दु:खकी भ्रान्ति भी इसी कारण होती है. ये भ्रान्तियां तो पत्र-पुष्प-फलकी तरह है. इनके तना और जड़ अहंता और ममता ही हैं.

३१. मनमें तो संकल्प-विकल्प निरन्तर लहराते रहते हैं. भक्तिके संकल्प-विकल्पोंका स्रोत मानसिक चंचलता न होकर श्रद्धामयी स्थिरतामें होता है. क्या आज हम इन संकल्प-विकल्पोंके दो प्रकारोंके तारतम्यके बारेमें सभान हैं?

३२. गाममें हमारी पहचान पू.पा. या प.भ. के रूपमें है एतावता भक्ति सिद्ध हो गई मान लेना धांधली है. अहंता-ममताका नाटक ऐसा भी हो ही सकता है. तो हमारे हृदयमें भक्ति अंकुरित हो रही है कि नहीं ऐसी उत्कण्ठा यदि हो तो अपने हृदयपर हाथ रख कर गणना शुरु करो कि कौन-कौन आपको खुद आपसे अधिक भक्तिशाली लग रहा है?

३३. कुछ लोग समझते हैं कि युनिवर्सिटीमें एम.ए.-पी.एच.डी. हो जाने पर किन्डर्-गार्डन्‌की कविता बोरिंग् लगनी चाहिये. यह यदि उचित सत्य हो तो स्वर-व्यंजनकी वर्णमाला भी बोरिंग् लगनी चाहिये! तब तो कोई भी उच्चस्तरीय साहित्यका लेखन-पठन शक्य नहीं रह जायेगा! इसी तरह मानसीसेवा या व्यसनदशा या निरोध या सर्वात्मभावके मुकाम पर पहुंचनेवालेको यदि नवधाभक्ति कर्मकांड लगने लगे तो कुछ लफड़ा ही समझना चाहिये.

३४. घरमें जलते चुल्हे (कोयला-गॅस्-इलेक्ट्रिक्के) पर रसोई बनाते समय भडका न हो ऐसी सावधानी उत्तमकक्षाकी, भडका हो

जाये तो तुरत बुझा पानेकी व्यवस्था उपलब्ध होनी मध्यमकक्षाकी, भडका होनेपर चीख-पुकार भागं-भाग अधमकक्षाकी सावधानी होती है. ऐसे ही हमारे भगवदाश्रयमें विवेक-धैर्यका न छूटना, छूट जाने पर पुनः भगवादाश्रयके भावको प्रबल बना दृढ बनाना और तीनोंके छूट जानेपर अपने-आपको कोसना क्रमशः उत्तम मध्यम या आदिम कक्षाकी शरणागति है.

३५. पञ्चपर्वा विद्या या पञ्चपर्वा अविद्या में पर्व हम जीवात्माओंके है और विद्या-अविद्या भगवान्‌की ही शक्तियां है जो पर्व या गांठ बन कर जीवात्माको बान्धे रखती है. विद्या या अविद्या की गांठ कभी ढीली पड़ती है तो कभी अधिक कसी हुई बन जाती है. इन दसों गांठोंमेंसे कोई यह या वह पूरी तरह खुल गई तो जीवात्मा न तो सांसारिक बन्धनमें बन्धने लायक और न उनसे छूटने लायक ही रह जाता है. दोनों तरहकी गांठोके बन्धनकी शिथिलता या कठोरता पुष्टिभक्ति अपने विकासमें उपयोग कर सकती है. अर्थात् अविद्या विद्या और पुष्टि यों तीनों तरहकी भगवत्शक्तिका समन्वितरूप पुष्टिभक्ति होती है.

३६. कॅल्‌क्युलेटर् भी वापरना आता हो तो भी सच्चा हिसाब हो सकता है अथवा कभी अनपेक्षित जोड या असह्य बाकी सहनी पड़ेगी. पुष्टिभक्ति भी एक कॅल्‌क्युलेटर् जैसी ही समझनी चाहिये. वैसे तो महाप्रभुने **''भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः अन्यथाभावम् आपन्नो तस्मात् स्थानात् च नश्यति''** आज्ञा की है परन्तु इस नियमका अतिदेश भक्तिमें समझना आवश्यक है कि **''यथोपदिष्ट पुष्टिभक्ति न की जाये तो पुष्टिभक्तिके दुरुपयोगवश वह जन्म पुष्टिभक्तका व्यर्थ व्यतीत हो सकता है''** अन्यथा षोडशग्रन्थके बाद शिक्षाश्लोकीका उपदेश असंगत हो जाता है.

३७. भगवान्‌की अवतारकालीन या वर्तमान अनुभावकालीन लीलाएं कुछ

लोकवद् रोचक हो सकती हैं तो कुछ भावपोषक भी हो सकती हैं. रोचकलीलाओंको सुनने-सुनानेका अनपेक्षित बढावा देनेसे भावपोषक लीलाओंका अनुसन्धान तूट जानेपर पुष्टिभाव ही खंडित हो जानेकी भीति बहोत सावधानी मांगती है.

३८. सच्चा भगवत्स्नेह व्यक्तिको कभी केवल दर्शनार्थी बना नहीं सकता. केवल दर्शनार्थी कभी सच्चा भगवत्स्नेही बन नहीं पायेगा. हवेलिओंमें भटकती पुष्टिमार्गीय जनताको शांतिसे बैठ कर कभी सोचना पड़ेगा कि हम वहां भगवद्भक्तिके लिये जा रहे हैं या भगवद्दर्शनके लिये? हम भक्तिके मनोरथी हैं या दर्शनके मनोरथी? थियेटरोंमें नाटक-पिक्चर् देखने जाती जनता नाट्यकला या चलचित्रकलाकी प्रेमी मनोरथी नहीं होती केवल दर्शक ही होती है!

३९. किसी जमानेमें मंदिरोंमें पूर्ण शांतिका अनुभव होता या मिलता होगा. अतः प्रसिद्धि बढ़ने पर आज उसे टिकाये रखनेको प्रसाद और सजावट अधिक बढ़ गई. परिणाम?... शांति नदारद! खालि धक्का-मुक्की होहल्ला पाकिटमारी जूताचोरी...

४०. सेवा जो आत्मसमर्पणके आधार पर न की जाती हो तो भगवत्सेवाके कारण ही स्वयं भोगवृत्तिके बढ़ाव मिलेगा और भगवत्सेवकका भक्तिभाव छिन्न-भिन्न हो जायेगा.

४१. ''पुष्टिमार्ग सर्वश्रेष्ठ मार्ग है'' कह कर ढेर सारी जनताकी भीड तो इकठ्ठी कर ली पर आनेवाली भीड़ पुष्टिभक्ति करनेको श्रेष्ठ थी कि अश्रेष्ठ (वह) छटनी करनेका अवकाश भी न बचा! अपनी साधारण कन्याके लिये श्रेष्ठ वर खोज कर हम संतुष्ट हो जाते हैं उसके भाग्यकी सराहना भी करते हैं पर

श्रेष्ठ वरके दुर्भाग्यके प्रति हमें संवेदना कहां बच जाती है?

४२. आजीविकाके उपार्जनार्थ या लोक-धनसंग्रहार्थ की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथा, भूमिका क्षितिज जहां दिखता उतनी यात्रा कर लेने पर क्षितिज मिलता कहां है? अतएव कहा जाता है कि गधेके सिर पर लकडी बांध उसपर गाजर सामने बांधनेपर हांसिल न होनेवाला गाजर गधेको दौडाता रहता है.

४३. मानवीय व्यक्तित्वके दो या तीन आयाम स्वयम् उसे अनुभूत होते है, उन्हे, आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक कहो या शरीर मन-वाणी और आत्मा कहो. अतः इनका स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य तीन तरहका होता है. युक्ताहार-विहार शारीरिक स्वास्थ्य, अदंभ-संतोष आत्मिक स्वास्थ्य एवं भगवन्माहात्म्यज्ञान और भगवद्रति आधिदैविक स्वास्थ्य. अपने भगवान्का ब्रह्म-परमात्मा होना भगवन्माहात्म्यज्ञान होता है जबकि ब्रह्म-परमात्माके भगवान् होनेका भाव भगवद्रति होती है. मनका स्वास्थ्य संतोष वृत्तिसे और असंतोषसे दंभका हेतु बनता है. आहार-विहार एक-दूसरेके अनुपातमें समान हो तो चिकित्सककी आवश्यकता भूले-भटके हो सकती है.

४४. भक्तिहीन पुष्टिमार्गीयके उद्यम सफल होनेका मतलब भगवान्का धातु-प्रस्तरमूर्तिमें रूपान्तरण. भगवदीय भक्तके सफल उद्यमका मतलब धातु-प्रस्तरकी मूर्तिका ही दिव्य भगवत्तामें रूपान्तरण इतना ही नहीं अपितु गृह-परिवारका भी वैकुण्ठ लीलास्थलीमें रूपान्तरण परन्तु कदाचिद् भगवदीय भक्तका उद्यम विफल भी हो तो उसकी मानसी भगवन्मूर्तिका भी भगवत्कथाकी श्रवण-कीर्तन-स्मरण क्रियाओंका भी कथाभक्तिमें रूपान्तरण सहज सम्भव होता है.

४५. मदिरादिके व्यसन सांस- वाणी-व्यवहारसे पकड़में आते है. कामवासनाके

व्यसनका आवेग आंखो और व्यवहार से पकड़ा जाता है. भक्तिकी व्यसनदशा तो भगवान् और भक्त के बीचमें तीसरेकी उपस्थितिके कारण प्रकट होती अस्वस्थतासे ही पता चल सकता है.

४६. परमात्मासक्ति सिद्ध होने पर जीवात्माके लिये अहंकारास्पद तत्त्वमें भी पारमात्मिकता प्रकट हो जाती है. निजात्मासक्तिवश भक्तके भी अहंकारास्पद तत्त्वमें शारीरिक या आधिभौतिक क्षुद्रता झलकने लगती है.

४७. तीर्थयात्रा स्थलसौंदर्यके आकर्षणवश हो उसे पिकनिक्का ही प्रकारान्तर मानना चाहिये और भगवद्रति या भगवन्माहात्म्यके आकर्षणवश हो तो पिकनिक्को भी तीर्थयात्रा मान लेना चाहिये.

४८. कड़ी धूप या गरमी से मुरझाये फूलोंकी माला प्रभुको धराना सेवारीतिका अंधानुकरण है. तो लौकिक चिन्तासे ग्रस्त अन्तःकरण द्वारा भगवद्भक्ति करना भी मुरझाये फूलोंकी माला प्रभुको धरानेकी सेवारीतिका कर्मकांड है.

४९. शारीरिक श्रमसे क्लान्त शरीर नहानेके साथ कुछ स्फूर्ति अनुभव करता है. असंतोष-मात्सर्यसे क्लान्त अन्तःकरण भी संतोष या इष्टलाभ वश स्फूर्ति अनुभव करने लगता है. जगत्में उभरी अरतिसे भरा हृदय भी जगदीशकी लीला विचारने पर भगवद्लीलारतिके आनन्दमें मग्न हो पाता है.

५०. दूसरोंको हितकर बातोंके सुझाव देते समय उन्हें प्रीतिकर होगी कि नहीं, वो विवेक छूट जाता है. इसी तरह हमें प्रीतिकर बातोंको सुनते समय हमारे लिये हितकर होंगी की नहीं इसका

विवेक भी छूट जाता है. रूपगर्विताको रूपप्रशंसा प्रीतिकर लगने लगती है और हितविवेक छूट जाता है. उपदेशक वर्गको हितकर उपदेश प्रदान करनेके चक्करमें दूसरेकी प्रीति कितनी तितर-वितर हो जाती है. मूर्खोको, परन्तु, उनकी स्वच्छन्दताकी छूट देनेवाली बात ही प्रीतिकर लगती है. महाप्रभु वल्लभके उपदेश प्रभुको प्रीतिकर एवं सेवकोंके हितकर बातोंके उपदेश हैं.

५१. अपने सेव्यप्रभुके बारेमें हृदयमें शुद्धभक्ति हो तो मनोरथ करानेवाले धनदाता खोज नहीं पायेंगे: भला टॉर्च हाथमें जोड़कर घरमें अन्धेरा किसी कोनेमें खोजा जा सकता है? टॉर्चका फोकस् जिस दिशामें करेंगे वहां अन्धेरा गायब हो जायेगा! जहां अन्धेरा दीख रहा हो वहां टॉर्चके स्वीच्-ऑन्की बाट देख रहा है.

५२. प्राय: अध्ययनकी समाप्तिके बाद परीक्षा आती होनेसे विद्यार्थी उसे अध्ययनका अंग नहीं समझ पाते हैं. भगवद्भक्ति प्रारंभ करनेके बाद जीवनमें प्रकट होते सांसारिक क्लेशको हम भी भगवद्भक्तिका अंग मान नहीं पाते! जगत्की वास्तविकता, परन्तु, कडवाहटके बाद मिठास और मिठासके स्वादके बाद कडवाहटमें रहा हुआ स्वाद भी प्रकट होता है. यह तो भूख और भोजन के जैसा ही चक्कर है.

५३. कोई सच्चा भक्त हो तो संसार भी निभा सकता है पर कोई सच्चा संसारी भक्तिको निभानेमें कठिनाई अनुभव करेगा.

५४. गन्तव्यसे भटकानेवाला मार्ग सुरम्य भी हो पर हेय होता है. स्वभावसे विपरीत साधना श्रेष्ठ होने पर भी निष्फल ही रह जाती है.

५५. भोग-राग-शृंगारकी स्वाभाविक अनुपातसे अधिक बढ़ा-चढ़ा कर

गायी जाती गरिमाका कोलाहल कभी शान्त हो पायेगा तब पुष्टिभक्तिके मधुर गीतोंके शब्द-सुर-लय सुनाई देंगे. प्राय: सभास्थलोपर होते कोलाहलको शान्त करनेके लिये माईक्द्वारा की जाती घोषणा कोलाहलमें सर्वाधिक कोलाहल पैदा करती है सबको सुनाई दे ऐसी. जब श्रोता तो केवल परस्पर कुछ बोलते होते हैं.

५६. भक्तिभावके बिना थोड़ीसी की हुई सेवा भी बहुत लगने लगती है. भक्तिभाववश की हुई बहुत सारी सेवा भी थोड़ी लगती है.

५७. हम समझाते हैं कि मर्यादामार्ग—''यह करो वह मत करो''में मर्यादित होता है. क्योंकि पुष्टिमार्गका तात्पर्य प्राय: मर्यादा तोड़नेके अर्थमें लिया जाता है. अर्थात् जो ''मनमें आये वह करो'' जो मनमें आये कराके या करने देनेपर भी भगवान्का प्रसन्न होना 'पुष्टि' हो सकती है पुष्टिभक्ति नहीं. वास्तविकतया मर्यादाओंको तोड़ना भगवान्की पुष्टि है. पर तूटती या निभती मर्यादाओंमें भगवद्भावको खंडित न होने देना भक्ति है.

५८. सांसारिक कामनाओंको पूर्ण करनेके लिये भगवद्भक्ति करना और भगवद्भक्ति करनेको सांसारिक कामनाओंके भी पूर्ण कर लेना एक ही बात नहीं हो सकती. चलते-चलते पैरोका कभी फिसल जाना और न पैर फिसलते हो तभी फिसल जाये ऐसी असावधानीसे चलनेका प्रकार एक कैसे हो सकता है?

५९. सिद्धान्त भंग करनेको स्वार्थक्षति दुर्ज्ञस्वभावकी वृत्ति हो, स्वार्थपूर्तिके हेतु सिद्धान्तकी अनुवृत्ति मर्यादास्वभाव हो, स्वार्थक्षति सहन करके भी सिद्धान्तअनुवृत्ति पुष्टिस्वभाव हो तो न स्वार्थपूर्ति और न सिद्धान्तअनुवृत्ति को किसका स्वभाव मानना? कहीं हम आधुनिक

पुष्टिमार्गियोंका स्वभाव ऐसा ही तो नहीं हो गया है!

६०. हम आचार्यवंशजोका मन हमारे आचार्यचरण महाप्रभु श्रीवल्लभद्वारा दरसाई रीतिसे भगवद्भजन करनेमें लगता नहीं है. भगवत्सेवा आजीविकार्थ करनेमें हमारी मनमानी रीतिके भजनीय स्वरूप भगवान् नहीं रह जाते हैं. मुसलमानोंमें भी मस्जिदमें अल्लाहकी इबादतके बजाय मकबराओंमें दटे हुओंकी मन्नतमें श्रद्धा अधिक पायी जाती है.

६१. कोई व्यापारी अपनी भगवद्भक्तिका प्रदर्शन करनेंमें अनापशनाप धन लगा सकता है. परन्तु सच्चा भगवद्भक्त अपनी भगवद्भक्तिका व्यापारिक प्रदर्शन कैसे कर पायेगा?. कोई समृद्ध सम्मान्य पति अपनी पत्नीको सजा-धजा कर प्रदर्शनीय बनाना पसन्द करेगा?

६२. सच्चे भक्तके हर काममें भक्तिका अनुभाव छलकेगा. इसे कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु इसके भगवद्भक्तिमें लौकिककामनाओंके सन्तोषका अनुभाव झलक नहीं सकता!! यह नहीं भूलना चाहिये.

६३. एकदूजेके मांथे बिराजते भगवत्स्वरूपके दर्शन अपन् भी करते हैं कर भी सकते हैं परन्तु उसमें रेडिमेड् भक्तिभावको सन्तुष्ट करनेकी मनोवृत्तिका मोह नहीं रखना चाहिये.

६४. कमसेकम अपसिद्धान्तकी बकवाद करना यदि हम बंध कर पायें तो हवेलियोंमें भटकनेवाली वैष्णव जनताकी धर्मश्रद्धाका अनुचित लाभ लेना हवेलियोंके व्यवस्थापक बंध कर पायेंगे. ऐसा यदि हो पाये तो कुछ वर्षोंमें कानूनी व्यवस्था भी सुधर पायेगी.

६५. पुष्टिमार्गीय हवेलिओंमें व्यावसायिक रूपसे जुड़नेवाली मनोरथी जनता

वहांकी सजावट और प्रसाद की शोखीन होती है. यह अमावासके अन्धेरेमें उड़ती चामाचिडियोंको होते सन्तोष जैसा है. आजीविकार्थ चंदा इकट्ठे करनेवाली भागवतसप्ताहोमें मिलता कथा-श्रवणानन्द घने बद्दलोंसे होनेवाली अन्धकारमें चमकती बिजलीके जैसा आनन्द है. अपने घरमें अपने तन-मन-धन परिवार जनोंके विनियोगसे की जाती भगवत्सेवाका आनन्द प्रतिदिन उदित होते सूर्योदयके कारण खिलते कमलके जैसा आनन्द है.

६६. महाप्रभुके अनुग्रहवश बुद्धिमें प्रकट होनेवाली सुमति तथा वाणीद्वारा प्रकट होती सूक्ति भगवदनुग्रहवश यदि हृदयारूढ हो पाये तो वह भगवद्भाव है और जीवनमें अपने आचरणमें भी निभ पाये तो उसे 'भगवदीयता' कहतें हैं अन्यथा केवल बौद्धिक भावना या हार्दिक भावना या शारीरिक भावनाके अग्रिम पडावोंकी पुष्टिपथयात्रा चल रही है. इस नियममें क्या आप अपवाद हो सकते है? क्या मैं अपवाद हो सकता हूं? नहीं...नहीं!!!

।। अमृतवचनावली ।।

(१/क) "पाछे श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोर्वधनधरसों पूछें जो "महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बीगार करें? तासों आपु कहो ताको अधिकारी (ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो "हमहु कौंन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो! तासों तुम एक काम करों जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढ़ो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाको गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो."

(श्रीगोवर्धननाथजी, ८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

(ख) सो एक दिन एक वैष्णवने किसोरीबाईकों कछू सामग्री दीनी हती. तब किसोरीबाईने सिद्ध करिके श्रीठाकुरजीकों भोग समर्प्यो. ता दिन श्रीठाकुरजी आरोगवेकों पधारे नाहीं. तब किसोरीबाई मनमें बहोत खेद करन लागी. तब श्रीठाकोरजी बोले जो तेनें मेरेलिये सामग्री क्यों लीनी? सो हम कैसे आरोगे?

भावप्रकाश : यामें यह जताये जो औरकी सत्ता-सामग्री अपने श्रीठाकोरजीकों आरोगावनी नाहीं. और कछू वैष्णवपेतें ले के श्रीठाकुरजीकों विनियोग न करावनो. सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करें.

(२५२ वै.वार्ता, किसोरीबाई वा.प्र.२)

(२) जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो याकेलिए गोअन्कों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो. यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे.

(महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य.घरुवार्ता-३)

(३) ...श्रीआचार्यजीको वैष्णवने आई कही, "महाराज! श्रीद्वारकानाथजी वैभव

सहित पधारे हैं." ता समें श्रीगोपीनाथजी ठाड़े हते! (तब) श्रीगोपीनाथजी कहें "लक्ष्मी सहित नारायण पधारे हैं!" तब श्रीआचार्यजी कहे तब श्रीआचार्यजी कहें "वैभव ठाकुरको देखि के तिहारो मन प्रसन्न भयो है? (तब) श्रीगोपीनाथजी कहे, तिहारो कहाइके श्रीठाकुरजी की वस्तुमें अपनो मन करेगो ताको निरमूल नाश जायगो". तब श्रीआचार्यजी कहें "हमारो मारग तो ऐसोई है."

(**श्रीगोपीनाथप्रभुचरण,** ८४ वैष्णव वार्ता, दामोदरदास संभलवारेकी वार्ता).

(४/क) धनादिकी कामनाकी पूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको कर्ममार्गीय समझना चाहिये अपनी आजीविका चलानेकेलिये धनोपार्जनके रूपमें जो हैं उनको तो खेती-बाड़ी जैसे व्यवसायकी तरह 'लौकिक कर्म ही कहना चहिये (धर्म-भक्ति सर्वथा नहीं). मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलका उपयोग करनेवालेको उसके मलकी सफाईसे अधिक गंगास्नानका फल मिलता नहीं है. इतना ही नहीं ध्यान देनेलायक बात यह है कि गंगा जैसी पवित्र नदिके जलका ऐसा घृणित कार्यकेलिये उपयोग करनेके कारण वह पापी बनता है इसी तरह प्रभुकी सेवा-कथाके माध्यमसे पैसे कमानेवालेको सेवा-कथाका कोई भी (धार्मिक-भक्तिमार्गीय) फल तो प्राप्त नहीं ही होता है प्रत्युत ऐसे अधम आचरणके कारण वह पापका ही भागी होता है.

(**श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण.** भक्तिहंस)

(४/ख) तब श्रीगुसांईजी आपु कहे : "जो हम कौनसे जीवको कहें, जो कौनसे जीवको बिगार करें! सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो तो तत्काल है! तासों श्रीगोवर्धनधरको अधिकार (ट्रस्टीपद) कौनकों देय? कौनको बिगार करें?...पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो "महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें? तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाको अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढ़ो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो".

(**श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण,** ८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता प्रसंग-१०)

(५) अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी और उत्सवादि समयानुसार अपने वित्त अनुसार करने वस्त्रभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

(**श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण** २४ वचनामृत)

(६) यहां भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होयवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोड़के दूसरी जगह (अर्थात् हवेलीनूमें, जैसे आजकल, भेट-सामग्री पधराके नित्य या मनोरथनकी झांकी कर लेनो वैष्णवनूने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो है वैसे) भगवत्सेवा करवेवालेनूकुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके हे.

(**श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी,** भक्तिवर्धिनीव्याख्या-२)

(७) जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करि कोडी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, ओर नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो "तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो!" या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई-आपुनी सेवा न भई-राजभोगको नागा माने, धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये-दुःखक्लेश न पाये.

(**श्रीहरिराय महाप्रभु,** भावप्रकाश ८४ वैष्णवनकी वार्ता-७६)

(८) पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोई दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अहंकार तो बढ़े ही है परन्तु ऐसी खरीदी भई सेवासु चित्त भगवानूमें कभी चोंट नहीं सके है. भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिकके रूपमें धनादिक लिये जावेपे तो, जैसे पंडा-पुरोहितनूकुं यज्ञ-यागादिको फल नहीं मिले है परन्तु यजमाननूकुं ही मिले है वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा

निष्फल बन जाय हे शंका: यजमान जैसे दक्षिणा दे के पुरोहितनूके द्वारा यज्ञयाग करा लेवे है वैसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीनूमें वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरह:अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई है? समाधान: या शंकाको ये समाधान जाननो जो कर्ममार्गमें ऐसो करनो विहित होवेसुं पुरोहितनूसूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध नहीं होयवेसूं कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकारसूं (निज घरमें निज परिजननूके सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही भगवत्सेवा करनी चहिये.

(**गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण,** सिद्धान्तमुक्तावली विवृतिप्रकाश-२)

(९) लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू भेट-सामग्री मिलि जाये ऐसे लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पांखड़ी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे ऐसी रीतिसूं "मेरो लौकिक सिद्ध होय" ऐसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय है.

(**नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी महाराज,** सिद्धान्तमुक्तावली-टीका श्लोक १६-१७)

(१०) जो श्रीवल्लभकुल हैं वे तो आपुने सेव्यस्वरूपपें कैसो स्नेह राखत हैं जो एक ठौर द्रव्यकी ढेरी करो और दूसरी ठौर श्रीठाकुरजीकों पधरावो तो श्रीवल्लभकुल वा द्रव्यकी ओर देखेंगे हु नाहीं अरु श्रीठाकुरजीकों अतिस्नेहसों पधराय लेंगे. परि जो या कलिको जीव है वाकुं तो द्रव्य बहुत प्रिय है. तासों वो तो श्रीठाकुरजी सन्मुख हु नाहीं देखेगो अरु केवल वैभवकुं देखेगो अरु मोहित होय जायेगो.

(**नि.ली.गो.श्रीमट्टुजी महाराज,** ३२ वचनामृत वचनामृत-५)

(११) श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिनूकी एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे सेवा आदि

विषयनूमें पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो जेसी कि परम्परा आज भी हे ही ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजनूके समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे.

(**गोस्वामी तिलकायत नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज, श्रीनाथद्वारा,** डेक्लेरेशन मिति भाद्रशुक्ला पञ्चमी वि.सं.१९४८=ता.५-९-१८९३)

(१२)...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; और वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाय है. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वहां जो सन्मुखभेट आवे हे, वाकुं कीर्तनीया-महावनीया ले जावे हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरो कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित है...हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरे हैं वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं घरें हैं फिर भी वो आभूषणनूमें वापरी जावे है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवेमें बहोत अनाचार होवे है. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे...वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे है.

(**नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज, राजनगर,** वचनामृत.४८४-८७).

(१३) महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिनूसूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो नहीं जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण-वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

(**नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी महाराज, अमरेली,** श्रीवागीशलालजीके आम-मुखत्यार:"अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक" मुद्देपर

सन्१९०९-१०में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी)

(१४) जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यर्थाथ उपदेश लोगनकुं देते हते; और मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणनूसूं हमने बहोत हद तक छोड़ दिये हें; या कारणसूं अधिकांश लोगनूमें साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार जानकारी बच गयी हे.

(**पञ्चमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी, कामवन** मुंबईके वैष्णवनूकुं लिखित पत्र:'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित)

(१५) वकील : यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये; भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो "मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे " ऐसे आपको कहनो हे?

पू.पा.महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय वैष्णवनूकेलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवेकी कोई प्रक्रिया नहीं हे. और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकुं साम्प्रदायिक मन्दिर नहीं कह्यो जा सके.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज सुरत** "नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक" विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी)

(१६) हमारा प्रमुख सिद्धान्त है 'असमर्पित त्याग'. उत्तम उपाय तो यही है कि घरमें जो भी रसोई बने वह प्रभुको भोग धरके बादमें ही महाप्रसाद लिया जाय. ... जहां तक असमर्पितका त्याग नहीं होगा वहां तक बुद्धि अच्छी नहीं हो सकती. सानुभावता कब सिद्ध हो सकती है? जब हमारी बुद्धि निर्मल हो... आज हम हीरे (घरमें बिराजते सेव्य प्रभु) को परख नहीं सकते. सच्चे हीरेको जौहरी ही परख सकता है. स्थिति क्या है कि हम जूठे हीरेको सच्चा मानकर उसीके पीछे (हवेली-मन्दिरोंमें) दौड़ लगा रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीने तो निधिरूप सच्चा हीरा हमको दिया है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमेश्वरम्". भगवान्को पहचाननेकेलिये तो दिव्यता प्राप्त होनी चाहिये. दिव्यता ही आत्मबल है. ... अतः

मेरा तो आप लोगोंसे साग्रह अनुरोध है कि आत्मबल प्राप्त करनेकेलिये अपना कुछ दैनिक नियम बनाईये. षोडशग्रन्थके पाठका नियम लीजीये.

(**द्वितीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज, इन्दौर-नाथद्वारा,** श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन भाग-२, वचनामृत ७, पृष्ठ.१२४)

(१७/क) और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टनूसूं जो नेग-भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे है. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग अरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो प्रसाद गायनूकुं खवा दियो. ये है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तनूको जा (सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी) प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यनूकुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित है.

(१७/ख) भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाको अंग है, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार-पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने (अपने घरमें) करो...गुरुघरनूमें मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध है. ग्रन्थनूके अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

(**नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज, मुंबई-किशनगढ़** (१७/क)''आचार्यो-च्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति'' लेख.पृष्ठ.७, १७/ख.लेख 'श्रीवल्लभविज्ञान अंक ५-६ वर्ष १९६५में प्रकाशित वक्तव्य)

(१८/क) वैष्णवनूके पास जो भी परम पदार्थ है वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणनूके दिव्य सिद्धान्तनूके ऊपर अटल रहवेपर

ही जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलीनूके वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगवशात् उन हवेलीनूमें श्रीके दर्शन आज बन्द भये हैं यासुं अब वैष्णवनूके घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे है. मोकुं तो श्रद्धा है के या कठिन परीक्षामें हम सभीनूको श्रेय ही सिद्ध होवेवालो है.

(१८/ख) मेरे अनुयायीनूकुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवनूकुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीनूकुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं आगे बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण-दीक्षा कहें हैं तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन कहें हैं. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने है तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकार मिले हे. ब्रह्मसम्बन्ध लेवे वालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे... हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रनूके घर 'घर' ही कहलावे हैं ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे है.

(१८/ग) श्रीआचार्यचरणके सिद्धान्तोमें भगवत्सम्बन्ध और भगवत्सेवा को ही प्रधानता दी गयी थी. बादमें, परिलक्षित होता है कि, उसमें भी कुछ अन्तर आ गया.... श्रीआचार्यचरणके और श्रीप्रभुचरणके, सेवक हम देख सकते हैं कि सभी प्रकारके हैं. ऐसा नहीं है कि अमुक विशिष्ट व्यक्ति ही भगवत्सेवाकेलिये योग्य होता है और अमुक परिस्थितिमें ही भगवत्सेवा हो सकती हो ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है. अनेक प्रकारके जीव भगवत्सेवा करते थे. उनमें स्मशानवासी वेश्या आदिसे लेकर अच्छे विद्वान् ब्राह्मण भी थे आजके समयमें मुझे प्रतीत होता है कि हम उन चरित्रोंको भूल कर पीछेसे मुख्य बन गये ऐसे केवल भावात्मक रूपको ले कर बैठ गये हैं कि जो आज भी वैष्णवोंमें प्रचलित है.... मैं मानता हूं कि चरित्रोंका विचार करनेमें सिद्धान्तोंकी आवश्यकता होती है.

(**तृतीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज, कांकरोली** (क) श्रीमत्प्रभुचरण प्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन मुंबईके पुष्टिमार्गीय

वैष्णवनूकी सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. (ख) बयानःमूर्तिबा कार्या.सहा.कमि. देवस्थानविभाग. खंड.उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५. (ग) श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन भाग-२, वचनामृत २०मुं पृष्ठ.१४६,१४९).

(१९) आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे मन्दिरनूमें मात्र द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थनूकी जड़ है. ऐसे मन्दिरनूके अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं है. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. "करत कृपा निज दैवी जीवनपर" या उक्तिमें 'निज शब्दको प्रयोग कियो गयो है. दैवीजीव कहीं भी हो सके हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम 'पुष्टि'को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हैं!... आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे वाकुं जिवानो चाहें हैं? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहो हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहमें सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरनूसूं कोई लाभ नहीं है क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; ओर जहां द्रव्य इकठ्ठो होय है वहीं अनर्थ हो जावे है. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप याके कारण ही है.

(**नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज, मुंबई-मद्रास** 'वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष.१९६५)

(२०/क) जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हैं... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय (दोष) लगे है. जैसे गंगा-जमुना जलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके है, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(२०/ख) तन और वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही है अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो है के "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा". मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक

है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके है. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यवसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे है. परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे है अतएव बजारके भावनूकी घट-बढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं है... कोई बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके समझ ले है के बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं है क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्त दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें: एक दुकनदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगाके व्यापार शुरु करे सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रहके जब तन भी व्यापारमें लगावे है तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके ही विचार आते रहे हैं : अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं कैसे व्यापार बढ़े... अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये.

(**नि.ली.गो. श्रीगोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर :** (२०/क) 'सुधाधारा पृ.११४. (२०/ख) 'सुधाबिन्दु पृ.७३)

(२१) "अति धन्यवादार्ह हे कि आपने इतनी महेनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तनूकुं कोर्टमें समझाये"-"हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयार हें".

(**नि.ली.गो.-श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज,** जामनगर, : गो.श्याम मनोहरजी(-पार्ला-किशनगढ़ कुं भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रनूमें).

(२२/क) ट्रस्ट हवेली-मन्दिर यानि पुष्टिभावोंकी मौत :

भगवान्-स्वधर्म पूंजीसे बंधकर नहीं चलते; वे श्रद्धा और प्रेमपरवश होकर चलते हैं. आज जो (मन्दिरों-हवेलियोंके) ट्रस्टोंकी या न्यांसोकी प्रणाली चल रही है वह पूजीवादकी एक अभिनव दास्तां है जिसमें भगवान्, गाय, गुरु और धर्मानुयायिओं पर एकछत्र साम्राज्य करनेकी लालच समायी हुई है. इस तरहसे आदर्शका जामा पहने हुए इस धनलिप्सा और धनिकों की दास्तांमें वह प्रेम नहीं है जो एक अकिंचन भक्तके "रहिये मेरे ही महल अनत न जैये..." इस आत्मीयता भरे मीठे बैनोंमें झलकती

है. यह प्रेमभरा अनुनय है और आजका ट्रस्टी और सत्ता भगवान्‌को पूंजी या सत्ता के जोर पर यह कहते हैं कि "इस स्थानसे जरासा भी नहीं हिलना, ध्यान रखना, मैं तुम्हारा व्यवस्थापक, ट्रस्टी हूं, चाहो या न चाहो, तुमको मुझपर भरोसा करना ही होगा, समझे!" लोग समझते हैं कि यह धर्मरक्षाका ही एक सर्वश्रेष्ठ रूप है, किन्तु... इसमें भी प्राणोंकी उतनीही असुरक्षा है जो मौतसे कम नहीं...वल्लभाचार्यने ऐसे जकड़े हुवे ईश्वरको दामोदर माननेसे भी इंकार कर दिया.

ठाकुरजीको ट्रस्टमें पधरानेवालोंने ठाकुरजीको बेच दिया है :

...अच्छी तरह सोचो कि ऐसी कौन माता होगी जो अपने लड़केको धनकी लालचमें बेच दे; या कोई प्रेमी कभी भी प्रत्यक्ष तो क्या सपनेमें भी ऐसा करना तो दूर रहा, सोच या देख भी नहीं सकता, इस विषयमें एक कहानी याद आती है...एक बार रुपये पैसेवाली बांझ औरत (आधुनीक दर्शनीया वैष्णव और ट्रस्टी) ने एक गरीब (गोस्वामी गुरु) का बच्चा (ठाकुरजी) खिलानेके लिये लिया. कुछ दिनों बाद बच्चेकी मांने जो गरीब थी बच्चा मांगा तो अमीर औरतने कहा कि ये तो मेरा ही बच्चा है, तेरा नहीं है. जो तुझसे हो सके वह करले. बैचारी गरीब मां...न्यायकी मांग करने लगी...मगर सभी (वैष्णव,आमजनता,सरकार) लोग उस गरीबके खिलाफ गवाही देने चले आये.

इस तरह धनने ईमान खरीदा, भगवान् खरीदा और उस उन्मुक्त बालककी गुंजती किलकारियां हमेंश-हमेंश के लिये चुप हो गई. लोगोंने कहा कि अब भगवान् बोलते नहीं, हंसते नहीं, खेलते नहीं हैं. किन्तु यह आशा उससे की जा सकती है जो जीवित हो, किसीके प्यारमें बन्धा हो. फिर उस खूबसूरत बच्चेकी नुमाईश और प्रदर्शन करने लगा, जैसे बेबी मिल्कके डिब्बेका चित्र या मोडेलका चित्र होता है.

ट्रस्टीओं द्वारा की जाती सेवा पूतनाके प्रेमके समान है :

रोज यह सोचा जाने लगा कि इससे क्या आमद हुई, कितनी बिक्री हुई. और सभी व्यवस्थापक इसकी निगरानी करने लगे. जब कोई आता देखने तो उसे दुलार किया जाता. लोग समझते हैं कि यह प्यार है, भक्ति है. मगर था तो वह व्यवसाय ही, जिसका रूप पूतनाके प्रेमकी भांति सच्चाईको छिपा गया और भोली यशोदाने लाल उसे खिलाने

दे दिया.

मन्दिर-हवेलियां दुकान बन चुके हैं :

कितनी बिक्री हुई इसका हिसाब रखा जाने लगा धर्म और धर्मस्वरूप यह बालक भगवान् जो प्यारसे भक्तोंके लिये भोला बन गया था. लोगोंने उससे फायदा उठाया और कह दिया - यह सार्वजनिक ईश्वर है. उस सर्वशक्तिमानको स्वार्थका साधन बना दिया और जगन्नियन्तापर धननियन्ता शासन करने लगे. हालत यह हुई कि कौन उसको खिलाये-पिलाये? वह तो सार्वजनिक था!

मन्दिर-हवेलियोंके ठाकुरजी जड़ बन चुके हैं :

द्वारकाधीशको भी यह छूट थी कि वह विदूरके घर साग खा सकता था किन्तु यह तो नितान्त निक्रिय बन गया, केवल दिखावा मात्र!

...क्या यह सिद्धान्त किसी प्रियतमके लिये प्रियतमा या माता को मान्य होगा? किन्तु यह आज मान्य है और मान्य करना होगा. केवल पैसेकेलिये अपना दिल नहीं, दुनियाका दिल बहेलानेको, वारांगनाकी भांति, जिसमें हृदय नामकी कोई वस्तु रह नहीं सकती और है तो बह मानी नहीं जाती. सभीका अधिकार है उसपर, जैसे वह सम्पत्ति हो, जो चाहें खरीदें, जो चाहे प्रयोगमें लायें, जैसा चाहे वैसा करे! उसको करना ही होगा. कैसी अनोखी है यह भक्ति और प्रेम की परिभाषा! फिर भी स्वतन्त्रताका घोष किया जाता है! क्या यह ही वह भक्ति है जिसे श्रीवल्लभ "महात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह" कहते हैं? आज इस भक्तिका माहात्म्य ये ही है कि किस भगवान्‌के यहां कितनी आमद होती है!

ट्रस्ट मन्दिर पुष्टिप्रभुके लिये जेलखाना :

...अब कोई प्यारसे यह नहीं कह सकता कि मेरा बालक देरसे सोया है, जल्दी मत जगाना. सूरदासका पद भगवान्‌को जगानेकेलिये दुलार नहीं रहा, न कलेउके पदमें ममताका अनुनय है; यह तो कम्पलसरी ब्रेकफास्ट है जिसे समय पर कैदीकी तरह ईश्वरको करना पड़ता है. मानो एक जेलखानेमें उठने या खाने की घंटी बजी हो! ठाकुरजी बिक रहे हैं; मनोरथी-दर्शनार्थी भक्त नहीं ग्राहक हैं.

...श्रीवल्लभाचार्यने जीवनमें अपने कलेजेके टुकडे अपने आराध्यको कभी दूर नहीं होने दिया. आज वो बिक रहा है धनिकोंके हाथों और

जकड़ा है सरकारी शिकंजेमें, पब्लिक् पोलिसीके अंदर, और अब उसे म्युझियमकी शोभा बनानेका समय निकट आ रहा है.

धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गर्ल्से भी बदतर है :

बेचारे धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गर्ल्से भी बदतर है...भगवान्की सुंदर विनिन्दितमुक्ता-दंतपंक्ति बगला भगतोंको देखकर खिल जाती है. सदानन्द निरानन्द होकर इन ईमान खरीदनेवालोंके हाथों खुल्लेआम बेचा जा रहा है...सबको सहारा देनेवाला स्वयं बेसहारा होकर बैठा है अपने धनिक ग्राहकोंकी प्रतीक्षामें!

हवेली-मन्दिरमें देवद्रव्यका प्रसाद खाना मतलब नरककी टिकिट कटवाना :

धर्मशास्त्रमें जिस बुद्धिमान् ब्राह्मणको देवलकवृत्तिसे अधम माना गया है...आज उस देवलकवृत्तिका धन चटकारे लेकर वैष्णवसमाज खा रहा है. नाथद्वारेमें क्या चिज स्वादिष्ट है...ये ही विवेचन करता है...किन्तु मेरा कर्तव्य क्या है यह कभी नहीं सोचता. श्रीनाथजीमें अब धनिकोंका साम्राज्य है.

...नाथद्वारामें आजकल पैसा अधिक आ रहा है, क्योंकि वहां इन धनिकोंका साम्राज्य है. इनके दलाल श्रीनाथजीकी महिमा बढ़ाते हैं...गरीबोंकेलिये ठहरनेवाला भगवान् अब धनिकोंकेलिये ठहरता है.

श्रीवल्लभके आदर्शोंके स्मशान जैसें मन्दिर-हवेलियां :

भगवन्नाम भागवतसे अस्पतालोंकेलिये करोड़ोंकी रकम जमा होती है, और जामनगरमें आदर्श स्मशान भी है, किन्तु यहां तो स्मशानसे भी आदर्श गायब होता जा रहा है! शायद आदर्शका स्मशान है यह ट्रस्ट और सरकारी देवालय.

मन्दिरका प्रसाद खाया नहीं जा सकता है :

...वल्लभमतमें ये सिद्धान्तत गलत है ओर ऐसे देवस्थानोंका चढावेका प्रसाद भी नहीं खाया जा सकता. क्योंकि वहां देवलकवृत्ति ही प्रधान है.

दर्शन-मन्दिर धर्मप्रचारका माध्यम नहीं हो सकते :

जहां तक भगवत्स्वरूप या मूर्तिका प्रश्न है, धर्मप्रचार उनसे सम्बन्धित नहीं है और न उसे उचित कहा जा सकता है. क्योंकि भगवान्ने धर्मकी व्यवस्थाकेलिये वेदव्यासादि अनेक ज्ञानावतार और अंशावतार धारण करके

ही धर्मरक्षा की है. आजकी (सार्वजनीक हवेली-मन्दिरकी) व्यवस्था आचार्योंचित और धार्मिक या भारतीय ही नहीं है तब वल्लभाचार्यसम्मत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता...हमारा इस विषयमें सुझाव है कि एक अलग व्यवस्था...करनी चाहिये जिससे वल्लभसिद्धान्तोंकी रक्षा हो सके. यदि ऐसी व्यवस्था नहीं कि जाती तो देवद्रव्य होता है. जिसका सेवन करनेसे आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नरकपात होगा.

नकली बैठके :

बैठकोंकी भावगंगा तो अब घरबैठे ही मनुष्यको पवित्र करने अपनी उत्ताल तरंगोसे सारे घर-बारको ही सराबोर करने लगी है!...८४ बैठकोंसे काम नहीं चला तो अब महाप्रभु श्रीवल्लभको मुसलमानोंके खेतोंमें अपनी झारी और अन्य चिन्ह प्रकट करनेको विवश होना पड रहा है!

("हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन" दिनांक. २५।२।८१)

(ख) श्रीवल्लभाचार्यने सेवाको खरीदनेकी बात नहीं कही है कि खरीद आओ रूपये देकर. नहीं! 'तनुवित्तजा'पदका अर्थ ही यह है कि वह समस्त पद है. जहां तन लगे वहीं धन लगे तब ही सेवा हुई. परन्तु धन लगे और तन न लगे तो सेवा हुई नहीं कहलाती है. (प्रथमेशवाक्सुधा-१, पृ.५९)

(ग)..."सेवाऽपि कायिकी कार्या" यह नहीं कि पैसे दे दिये. पैसे देकर घरमें विवाहिता पत्नीको नहीं लाया जाता है, वैश्याको लाया जाता है. वेश्यासे घर नहीं बसता है यह स्पष्ट है. अतः साफ बात है कि भगवत्सेवा और वरण में पति-पत्नीका दृष्टान्त देते हैं कि जिनमें आत्मीय सम्बन्ध है. (प्रथमेशवाक्सुधा-१, पृ.७४)

(घ) भेंट भी आचार्यके सन्मुख ही होती है. प्रभुके सन्मुख भेंट नहीं होती है. देवलकवृत्तिसे बचनेकी विधि और वैदिक व्यवस्था को सम्हालकर रखना चाहिये अन्यथा बुद्धि बिगड़ेगी. ऐसा करनेसे पतन होता है, और हुवा है. (वहीं पृ.१७१)

वस्त्र-अलंकारोंमें मन अधिक जाता हो तो ऐसा साहित्य रखनेकी आवश्यकता नहीं है. ऐसा करनेसे लौकिक बठता है और धर्मभावना नष्ट

होती है...अतः वैभव बढ़ानेकी श्रीगुसांईजीने ना कही थी. और श्रीमहाप्रभुजीने नावको डुबोकर पुरुषोत्तमको ही घरमें पधराया था. (वहीं पृ.१८०)

(ङ) धर्म की परम्परा प्रदर्शनपर आधारित नहीं है पर एक यथार्थ जीवनका उज्वल पक्ष है...कुनवारा और अन्य मनोरथों...का रूप आगे चलकर महाप्रभु श्रीवल्लभकी आचार-परम्परा और सम्प्रदायकी मर्यादा को आहत करनेवाला होगा जिसकी आज कल्पना भी की नहीं जा सकती है. (वहीं पृ.१९७)

(नि.ली.गोस्वामी श्रीरणछोडाचार्यजी प्रथमेश.)

(२३/क) प्रश्न:'देवद्रव्य कायकुं कहे हैं? 'देवद्रव्य'को मतलब देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होवे वाकुं 'देवद्रव्य कहे हैं. याही प्रकार गुरुकुं उद्देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय है....मन्दिरनमें ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यकुं और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दनमें 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके है; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही है. याही कारण वैष्णवनकुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेवेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही है.

(२३/ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है यामें व्यक्तिगत स्वरूप निजी स्वरूप की ही बात है; और याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसो नहीं है. मन्दिरको निर्माण भी घर जैसो होवे है कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे है वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे है तथा वाकुं 'मन्दिर ही कहे है...

(नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय, सुरत, (क)'वैष्णववाणी अंक.३, वर्ष मार्च १९८३.(ख)'गुजरात समाचार अंक २५-५-९३में प्रकाशित)

(२४) पुष्टिमार्गकी आज उपेक्षा होती जा रही है. उसकी परम्परा ही अब टूटती जा रही है. इसके मूलमें यदि कुछ है तो वह है आजकी साधन-सम्पत्ति. वही हमारे संस्कार बिगाड़ रही है. अभी भी जिस घरमें

अलौकिक (प्रभु) सेवा होगी वहां पुष्टिमार्ग जरूर निभेगा. श्रीमदाचार्यचरणके मतानुसार गृहसेवा और अपने माथे बिराजते ठाकुरजीका अति स्नेहसे जतन करना ही सच्चे संस्कारका मूल है... श्रीगुसांईजीके समयमें छप्पनभोग जैसे मनोरथोंकी शुरुआत करनेके समय (उनमें) केवल लौकिकता ही बढ़ेगी ऐसी स्पष्ट सूचना दी गयी थी... आजकल... मंदिरोंका उपयोग यश-किर्ती प्राप्त करनेके लिये होने लगा है. मंदिरोमें प्राधान्य मनोरथीका होने लगा है. श्री(ठाकुरजी), गुरु तथा सेवाभावना का उपहास होने लगा है. जबसे मार्गीय सिद्धान्तोंका उपहास होने लगा है तबसे मंदिरकी उसके संचालकोंकी वृत्ति ही पलट गई है. आडंबर और यश को पुष्ट करनेकेलिये... दर-दर भटकनेकी स्थिति पैदा हो गयी है... इन सबका सच्चा उपाय इस कलिकालमें अपने सन्तानोंको जरूरी संस्कार अपने घरसे ही दिये जायें ये ही है.

...मंदिरोंका सम्पूर्ण व्यापारीकरण होने लगा है... सम्पत्ति... प्राप्त करनेकी लालच बढ़नेसे प्रभु(स्वरूपसेवा)को भी हम व्यापार स्वरूपमें परिवर्तित करने लगे हैं.

(जुलाई-२००७, पृ.६)

ठाकुरजीकी सेवा चोरकी तरह करनी चाहिये... सेव्यस्वरूपका मैं सेवक हूं उसका ढिंढ़ोरा पीटना या उसका प्रदर्शन करना वह भी जीवके दैन्यमें विक्षेप उत्पन्न कर सकता है.... अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें भी इतनी गुप्तता जरूरी है. "प्रीत हियेंमें राखिये प्रकट करे रस जाय" की रीतिसे तुम्हारे प्राणप्रेष्ठ तुमको जिस रसकी प्राप्ति करातें हैं उसे कभी भी प्रकट नहीं किया जा सकता है.

(सप्टेंम्बर-२००४, पृ.७)

आजतो श्रीनाथजी-नाथद्वारा, चंदबावा-कामवन और अन्य ठाकुरजीके दर्शन करते ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी भुला जाते हैं. पुष्टिमार्गमें तो 'श्रीजी'का अर्थ ही अपनें माथे बिराजते ठाकुरजी होता है. जिसमें 'तिरु'का अर्थ श्री और 'पति'का अर्थ नाथ (यानि श्रीनाथ) ही होता है. अर्थात् अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीमें ही अपने सर्वस्वका दर्शन होना चहिये. उनको आरोगाया मतलब समस्त जगतको प्रसाद लिवा दिया ऐसा भाव सिद्ध होना चाहिये. यहां तो उससे उलटी गंगा बह रही है. अपने सेव्य ठाकुरजीमें सभी निधिस्वरूपोंके दर्शन होनेके बदले अब तो अरे,

वहां तक कि जीवमात्रमें अपन अपने ठाकुरजीका दर्शन करनेका विचार कर रहे हैं! और फिर बुद्धिकी चतुराई भी वापर रहे हैं कि सभीमें ठाकुरजीका अंश है इसलिये घरमें प्रभुकी सेवा करें या अन्योंकी करें एक ही बात है!! अतः अन्यसेवामेंसे सन्तोष लेना शुरु किया. इससे शरीर, पैसा, कीर्ति सबकी रक्षा हो और ऊपरसे परम भगवदीय कहलाने लगें!!! (सप्टेम्बर-२००७, पृ.७)

(**पंचमगृहाधीश.नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज,** कामवन-विद्यानगर, वैष्णवता-'सांचे बोल तिहारे', प्रकाशक: पं.पी.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज)

(२५/क) हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाको पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां (रह गयी) है? केवल मन्दिरनूमें दर्शनसूं क्या लाभ है? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है "कृष्णसेवा सदा कार्या". यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमानूमें अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो के घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य है तुम अपने घरनूमें ठाकुरजीकुं पधराओ और सेवा करो.

(२५/ख) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी है "गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः" (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचरण करनो चहिये गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य है... अतः मेरो तो माननो यही है के आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवनूकुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये और धर्मग्रन्थनूको पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं के मन्दिरनूमें जाके... ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होवेवाली बात नहीं है प्रत्युत अपनी प्रणालीको भंग करवेवाली बात है.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी महाराज दहिसर-मुबई,** क-'वल्लभविज्ञान'. अंक ५-६ वर्ष १९६५, ख-'नवप्रकाश अंक ८ वर्ष ८)

(२६) क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेवे तकके अधिकारी नहीं हैं. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार है. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन है... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध है अपने सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हैं, उनकोही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके है. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावानूको उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय है; ओर कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमनूसूं विरुद्ध होवेके कारण बन्द कर देनो चहिये.

(**सप्तमगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी, कामवन** "श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना ता.१-२-५६")

(२७/क)...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियनूको भगवानूमें विनियोग होवे है... मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हैं सेवा अपनकुं अपने घरनूमें करनी है.

('वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष १९६५)

(ख) आज बहुत घरोंमें सेवा होती है, पर क्या हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि यह सेवा वास्तविक सेवा है? क्या आजकी सेवा "चेतस्तत्प्रवणं सेवा" (चित्तका प्रभुमें प्रवण हो जाना वह सेवा है) का अक्षरशः सार्थक स्वरूप है?

वस्तुतः हम खुद वल्लभवंशज गोस्वामी भी यह दावा नहीं कर सकते हैं कि आज हम वास्तविक सेवा कर रहे हैं. यह कहनेमें मुझको लेशमात्र भी संकोच नहीं हो रहा है, क्योंकि मैं दम्भका संरक्षण करना नहीं चाहता हूं, अतः स्पष्ट है कि यदि हम गोस्वामीओंमें सेवाकी और श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके पूर्ण परिपालनकी क्षमता होगी तो ही हमारे अनुयायी स्वयं सेवा और सिद्धान्त के परिपालनमें सक्षम हो पायेंगें, अन्यथा नहीं. क्योंकि हम गोस्वामी और वैष्णव एक ही तत्त्वके दो प्रकार हैं. वल्लभकुल बिन्दुसृष्टि है तो वैष्णव नादसृष्टि है. इस स्थितिमें श्रीमहाप्रभुजी

और श्रीगुसांईजी प्रभुचरण द्वारा की गयी आज्ञा वल्लभकुल और वैष्णव दोनोंकेलिये परिपालनीय है.

(पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी महाराज, बडौदा-सुरत, पुष्टिबोध भाग.१-२,वि.सं.२०३४)

(२८/क) प्रश्न : आज चल रहे जो डिस्प्युट हैं वामें कितनेक सिद्धान्त चर्चित हो रहे हैं जैसे कि नये मन्दिर नहीं खोलने, ट्रस्ट-मन्दिर नहीं बनाने, ठाकुरजीके नामपे द्रव्य नहीं लेनो, ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने तथा बिना समजे-सोचे कोईकु ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देनो, इन सब विषयमें आपको अभिमत क्या है?

उत्तर : देखो मन्दिरकी जहां तक स्थिति है तो ये बात सत्य है के पुष्टिमार्गीय प्रकारसुं मन्दिर तो मात्र एक ही है; ओर सब घरकी स्थिति हती ...आज मन्दिर जितने हैं अथवा जिन स्थाननकुं अपन मन्दिर समझे हैं वो स्थान... वाकु अपन मर्यादापुष्टि मन्दिर कह सके हैं पुष्टिमन्दिर नहीं पुष्टिको प्रकार तो मात्र गृहसेवामें ही है.

('आचार्यश्रीवल्लभ', ऑगस्ट१९९४,अंक.५, पुष्टिमार्ग-वर्तमान.प्रश्न-उत्तर.४,पृ.७)

(ख) आजसे डेढ़सो वर्ष पूर्व, श्रीमहाप्रभुके समयसे तब तक, पुष्टिमार्गमें भगवन्मन्दिर खोलनेकी प्रणाली नहीं थी. प्रत्येक वैष्णवके घर-घर भगवत्सेवा हो उसका आग्रह रखा जाता था. वैष्णव अपने घरमें श्रीठाकुरजीके स्वरूपको सेव्य कराकर पधराकर गुरुघरकी प्रणालिका अनुसार सेवा करते थे. (व्रज मोंहे बिसरत नांही, पृ.१४०-१४१)

(ग) खेतमें भरे हुवे जलको पी नहीं सकते... वो अनाज तो पैदा कर सकता है. वो अपने पेट भरनेका साधन मात्र करता है. वो किसी दूसरेके ओर उपकारका नहीं होता है... अपना पेट पालनेकेलिये भगवद्गुणगान करते हैं वो उस प्रकारके होते हैं कि जैसे खेतमें भरा हुवा पानी होता है. पद्मनाभदासजी... आचार्यचरणके निबन्धका श्लोक समझाने पर ही उन्होंने अपनी पौराणिक वृत्तिको छोड़ दिया!... अपने मकानमें बरतन धोनेके पनाले हैं उसमें जो जल जाता है वो एक गढ्ढेमें इकठ्ठा हो जाता है... वो पानी तो केवल गंध ही मारता है... भगवद्भाव होते हुवे भी जिनके

स्वभावमें दुःसंगके द्वारा दोष उत्पन्न हो जाता है ऐसे मनुष्य उस गंदे गढ्ढेके समान बन जाते हैं कि जिसमें पानी भरा हुवा तो होता है लेकिन वो पानी किसी उपयोगका नहीं होता. वो भरा हुवा पानी केवल दुर्गन्ध पैदा करता है... पांचवे (भगवद्गुणगान करके अपनी आजीविका चलानेवाले नीच वक्ताओंके भाव) गटरके समान दुर्गन्धयुक्त...अस्पृश्य होते है. (जलभेद प्रवचन, वड़ोदरा)

(**तृतीयगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज,** कांकरोली-वड़ोदरा)

(२९) श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के दुनियामें भटकते रहेते अपने मन-चित्त(कुं) श्रीठाकुरजीके सङ्ग जोडिके विनकी तनु-वित्तजा सेवा करनी. तनुवित्तकी सेवा अर्थात् स्वयं उपार्जित अपने धनसों अपने ही घरमें श्रीठाकुरजीकी अपने ही शरीरसों सेवा करनी सो.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी, वडोदरा-कांकरोली** 'वल्लभीयचेतना', ऑक्टोबर१५ २००३,पृ.४)

(३०) जो घरमें रहकर प्रभुकी सेवा करते हैं वे स्वयं तो कृतार्थ होते ही हैं किन्तु उनके परिवारके परिजन भी कृतार्थ होते हैं. ... सभी इन्द्रियसे अन्तःकरणसे भजनानन्दका अनुभव घरमें रहकर श्रीठाकुरजीकी सेवासे होता है. ... इसलिये घरमें आचार्य श्रीगुरुचरणसे पुष्ट करके श्रीठाकुरजी पधराओ और समयको सेवामय बनाओ. ... श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं तो घर घर नहीं रह जाता, वह प्रभुकी क्रीडाका स्थल बन जाता है... नन्दालयकी लीलाका स्थल बन जाता है.

...मुकुन्ददास...रामदास सांचोरा...किशोरीबाई...जीवनदास...इन महानुभावोंने...श्रीनाथजी तथा घरके श्रीठाकुरजीमें भेद नहीं समझा.

...श्रीठाकुरजी अपने निधि अर्थात् सर्वस्व हैं. ... ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम श्रीनन्दराजकुमारको श्रीमहाप्रभुजीने हमारी गोदमें पधराकर हमें भाग्यशाली बनाया है. यह अलौकिक निधि (धन) देकर हमें धन्य बनाया है. इससे बड़ा दूसरा कौनसा फल हैं!

...जो सांसारिक कामनासे श्रीठाकुरजीका भजन अर्थात् दर्शन स्मरण सेवा करता है उसे क्लेश ही हाथ लगता है. ... इसी तरह जो अपने

माथे श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं उन्हें हम चाहे जैसे नये-नये पुष्टिमार्गीय मनोरथ करके सामग्री सिद्ध करके लाड़ लड़ा सकते हैं परन्तु यह अधिकार किसी दूसरे ठिकाने थोड़ी मिल सकता है. अतः "घरके ठाकुरके सुत जायो नन्ददास तहां सब सुख पायो".

श्रीनाथजीको भी देवालयकी लीला छोड़कर नन्दालयकी लीला करने हेतु श्रीगुसांईजीके घर पधारना पड़ा. "व्याजं लौकिकमाश्रित्य श्रीविट्ठलेशगृहे अगमत्". अतः श्रीनाथजीका यह पाटोत्सव ही मुख्य माना गया है जो फाल्गुन कृष्ण सप्तमीको आता है.

अतः घरके ठाकुरजीका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है. कोई पत्नी अपने पतिकी सेवा न करे, उसके गुणगान ही करती रहे... तो क्या पति सन्तुष्ट होगा? इसी प्रकार... जो सेवा न करे, कृष्ण-कृष्ण गुणगान करते रहते हैं, परन्तु सेवा स्वधर्मसे विमुख रहते हैं वे हरिके द्वेषी हैं (विष्णुपुराण) सेवासे सेव्यको सन्तोष मिलता है यही वैष्णवका स्वधर्म है.

(**पू.पा.गो.श्रीगोकुलोत्सवजी महाराज, इन्दौर-नाथद्वारा,** २५२ वैष्णव वार्ता, खंड-२ की भूमिका पृ.१५-३६)

(३१/क) गो.श्रीहरिरायजी : जरा ध्यानसे सुनें... "तत्र अयम् अर्थः लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि" स्पष्ट सुनें, "सम्पादकत्वात्"... लाभ-पूजार्थ यत्न करता है जो सेवा करके, जब वो लाभ-पूजार्थ प्रयत्न करता है तो वो उपधर्म हुवा; देवलकत्व आदि जो दोष हैं वो उसमें प्रविष्ट होंगे ...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् यह खास ध्यानमें रखना कि जिस स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा की गयी हो उस स्वरूपकी भी लाभ अथवा पूजा केलिये यदि सेवा की जाती है तो सेवा करनावाला देवलक(पापी बन रहा है...

गो.श्रीहरिरायजी : और उपधर्मत्व होता है... और ये निषिद्ध है...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : इस स्थितिमें गुरु अपने लाभ अथवा पूजा केलिये शिष्यसे कुछ भी ठाकुरजीकेलिये मांगता है तो वह... शास्त्रनिषिद्ध होनेसे... दान होनेसे देवद्रव्य होनेसे उपयोग करने योग्य नहीं होता है.

गो.श्रीहरिरायजी : हां बिलकुल... ये तो बिलकुल स्पष्ट है... 'स्ववृत्तिवाद'से भी स्पष्ट होता है.

('पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा विस्तृत विवरण पृष्ठ १६४,१९३)

(ख) श्रीमदाचार्यचरणने "तत्सिद्धचै तनुवित्तजा" यह कहा है. कारणके दो अलग अलग व्यक्ति तनुजा वित्तजा करते हैं तो मानसी सिद्ध नहीं होती... इसी अभिप्रायको समझानेकेलिये आचार्यचरणने 'तनुवित्तजा' यह समस्तपद कहा है...वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषों द्वारा की गई ऐसी तनुता-वित्तजा सेवाएं मानसीकी साधक नहीं होती यही अभिप्राय बतानेकेलिये तनुवित्तजा समस्तपद कहा गया है. अन्यथा तनुवित्तजा न कह कर तनुजा वित्तजा ही कहते... यदि दो अलग-अलग व्यक्ति तनुजा और वित्तजा करें तो दोनों सेवाओंकी एक संयुक्त अवस्था तनुवित्तजा नहीं बन पाती. अतएव मानसी सिद्ध नहीं होती.

(ग) जहां तक लाभपूजार्थत्वका सवाल है तो वह तो किसी भी कोटिका भक्त करेगा तो देवलक ही होगा...यदि कोई स्वलाभपूजार्थ दर्शन-मनोरथ-महाप्रसाद आदि करता है तो अवश्य देवलक है...**अन्यके घरमें, अन्यके वित्तसे, अन्यके ठाकुरजीके भोगका महाप्रसाद लेना घोर सिद्धान्तविरुद्ध है.**

(घ) अब रहा सबाल ट्रस्टकी इन्कम और प्रोफिट यानी आय और लाभ का, तो ट्रस्टके आय-लाभ हम नहीं लेते. उलटा भगवत्शास्त्रोक्त सर्वलाभोपहरण न्यायसे ट्रस्टका सारा लाभ भगवदर्थ या गो-ब्राह्मणार्थ लगा देते हैं.... हमारें प्रभुको नित्यनेगभोग हम स्ववित्तजासे अरोगाते हैं.

(ङ) पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये श्रीभागवतकथा करके वृत्ति करना निषिद्ध है.

(**पु.सि.सं.शि.पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज, जामनगर,** अनिर्दिष्टपृष्ठसंख्याक 'तत्सिद्धचै तनुवित्तजा')

(३२) अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो है कि गुजरातके एक गांवमें...अपने सम्प्रदायके ही दो मन्दिर हैं और मन्दिरनकी दीवार भी एक ही है; परन्तु...इतनो लोकार्थित्व समाजमें उत्पन्न हो गया है...सवेरो होते ही चन्द्रमाजीवाले वैष्णव बालकृष्णलालको जो मेवा होवे है वो चन्द्रमाजीमें ले जावे हैं और बालकृष्णजीवाले जो वैष्णव होवे हैं वो चन्द्रमाजीको जो मेवा और प्रसाद होवे है वाकु बालकृष्णलालजीमें ले आवे हैं! ऐसी जबरदस्त होंसातोंसी वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है के मानों एक-दूसरेके संग स्पर्धा करते होवें. ऐसो ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण

जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके है!... ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फज़ीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे है. भागवतमें भी लिख्यो है के "गुजरे जीर्णतां गताः" भक्ति गुजरातमें आके बूढ़ी हो गई है. अन्धानुकरण बढ़ा हो तो वह गुजरातमें बढ़ा है... अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा... और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तों के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता है तो... गुजरातमें.

(**पू.पा.गो.श्रीद्युमिलकुमारजी, सुरत** "पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा दि.१०-१३जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई विस्तृतविवरण" पृ.३१७-३१८)

(३३) प्रश्न : अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर न कहके 'हवेली क्यों कह्यो जावे है?

उत्तर : सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेकके व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय है. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माता को पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है. वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलीनूकी तरह जैसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द रूढ़ हो गयो होवेसूं प्रयोग कियो जावे है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक-देवस्थान जैसो वो मन्दिर नहीं है.

(**पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी महाराज, सुरत** 'पुष्टिने शीतल छांयडे पृ.सं.१५७-१५८)

(३४) श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरनूकी प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु यामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती... प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोई मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे है वाकुं मन्दिरकी आरतीके घंटानाद सुनाई पड़े हैं. सेवा करवेकुं बैठी भई वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती ऐसेमें आरतीके घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके है क्या? **यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय है.**

(**पू.पा.गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी, वडोदरा** 'वैष्णवपरिवार अंक.जून ९०)

(३५) तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा एक ही व्यक्ति करे तब कहीं जाकर वह मानसीको सिद्ध करती है. केवल तनुजा करली या केवल वित्तजा करली तो अहन्ता-ममता दूर नहीं होगी.... कैसे? मैं आपको एक उदाहरण देता हूं... जो घरसेवा करते हैं उनकेलिये तो को प्रश्न नहीं है. लेकिन यदि कोई वित्तजा सेवा करेगा तो समझ लीजीये कि उसने मन्दिरमें भेंट दी, मनोरथ किया. उसकी आप रसीद लेंगे... तब आप कहेंगे "मैने सेवा लिखायी है". आप कहते हैं "मैने सेवा लिखायी है" तब अहन्ता कहां दूर हुई? अब आप मेहताजीसे क्या मांगोगे? "ये मेरी रसीद है मेरा प्रसाद लाओ". तो देखीये अहन्ता-ममतामें हम और बंध गये. तो ऐसी सेवा संसारको दूर नहीं करेगी. संसारमें बांधेगी... केवल यदि हम वित्तजा करते हैं तो हमारे अहंकारको बढाते हैं. और अहन्ता दूर न होगी ममता दूर न होगी तो मानसी कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि सभी बन्धनका मूल अहन्ता-ममता ही है.

(**पू.पा.गो.श्रीद्वारकेशलालजी महाराज, कामवन-सुरत** सिद्धान्तमुक्तावली प्रवचन भरूच जनवरी २००५)

(३६) पुष्टिमार्ग गुप्त है दिखावाकेलिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के बीच आन्तरिक सम्बन्ध दृढ करवेको मार्ग है... दोनोंके संबंध ऐसे होने चहिये कि कोई तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के

साथ क्या सम्बन्ध है याकुं दूसरे कोई व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या है? प्रशंसा पावेकुं स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं? ये तो सभी कुछ बाधक है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी, अमरेली-कांदीवली** 'पुष्टिनवनीत' पृ.१२)

(३७) चित्त भगवत्प्रेममें परिपूर्ण होइ जाय, पूर्णतः भगवान्में लगि जाय, तन्मय अरु तल्लीन होइ जाय है. तब परासेवा होत है. याकों मानसी सेवा कह्यो जाय है. याके सङ्ग मनुष्यकों शरीरसों हु सेवा करनी चहिये... तनुजा सेवासों शरीरकी शुद्धि होत है. अहन्ता-अहंपनेंको नाश होत है. धनसों करी जाती सेवा 'वित्तजा'सेवा है. वासों ममता-मेरोपेनेंको नाश होत है. अहन्ता अरु ममता एक-दूसरेके सङ्ग जुडे भये रहत हैं तासों तनुजा अरु वित्तजा सेवा एकसङ्ग करनी चहिये यामें प्रधानता तनुजा सेवाकी है. केवल धन दे देवेसों सेवा होत नाहीं है वासों तो (चित्तमें) राजसी वृत्ति होत है.

(**षष्ठगृहाधीश पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी वडोदरा** श्रीमद्भगवद्गीता पुष्टिदर्शन पृ.१२५)

(३८/क) "श्रीमहाप्रभुजी वल्लभाचार्यजीके पुष्टिसम्प्रदायमें दो दीक्षाएं दी जाती हैं. दोनों दीक्षाओंका प्रयोजन और तत्पश्चात् कर्तव्य का भी विचार बहुत आवश्यक है. केवल शिष्येषणासे प्रेरित होकर शिष्य बनानेकेलिये दी जाती दीक्षासे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है. जो भगवत्सेवा करनेकेलिये तैयार नही है उसको कदापि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनी नहीं चाहिये. परन्तु श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंमें यदि निष्ठावान् है तो उसे केवल नामदीक्षा लेनी चाहिये और अन्याश्रयका त्याग करके श्रीकृष्णका आश्रय दृढ करनेकेलिये प्रयत्नशील होकर नामसेवारत रहना चाहिये. परन्तु ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेके बाद श्रीकृष्णकी सेवा करनी अनिवार्य है.

श्रीकृष्णकी सेवा भी श्रीमहाप्रभुजीद्वारा दिखलाई गयी रीतिके अनुसार ही हो सकती है. अपने घरमें अपने परिवारके सदस्योंके साथ अपने ही द्रव्यसे भगवत्सेवा करनी चाहिये. किसीको द्रव्य देकर अथवा किसीसे द्रव्य लेकर की जाती सेवा वह भगवत्सेवा तो कदापि नहीं ही है परन्तु श्रीमहाप्रभुजीका

द्रोह होनेसे गुरु-अपराधसे ग्रसित बनाकर आरुढपतित बनाती है और इस भक्तिमार्गसे भ्रष्ट करती है. आजीविका चलानेकेलिये की जाती व्यावसायिक सेवासे तो चांडालके समान हीन देवलक बन जाते हैं. अतः भगवत्सेवा अपने घरमें अपने द्रव्य और तनसे ही की जा सकती है.

सेवाकी ही तरह भगवत्कथा-कीर्तन भी स्वयं अथवा निष्काम भगवदीयोंके साथ करने चाहिये. व्यावसायिक कथाकारोंको द्रव्य-दक्षिणा देकर अथवा लेकर करायी जाती कथा राखमें घी होमनेके तुल्य है. ऐसी कथा, पारायण, कीर्तन अथवा सप्ताह पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तसे सर्वथा विरुद्ध हैं. अतः सेवा और कथा दोनों द्रव्य देकर अथवा लेकर करनेसे किसी भी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति किसी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है. हां, बहिर्मुख अवश्य होते हैं.

(ख) "अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे" व्रजाधिपका सेवन करनेवाले हम मुक्ति नहीं मांगते हैं फिर भी पुष्टिमार्गी वैष्णव भागवत सप्ताह बैठाकर अपने पितृओंको मोक्षके मार्गपर भेजते हैं! पितृमोक्षार्थ भागवत सप्ताह, कोई एकसो आठ! कोई एक हजार आठ!... अपने पितृ तो गोलोकमें जाते हैं! उनको वापिस मोक्षमें क्यों भेजते हो!... भागवत सप्ताह पूरी हो जानेके बाद माला पहेरामणी (सौराष्ट्रकी एक वैष्णव परम्परा) की जाती है और कहते हैं कि अब गोलोक धाम... अब गोलोक धाममें भेजना है मतलब यह हुवा कि पितृओंको यहां से वहां सिर्फ धक्के हि खिलवाने हैं! हमारा कोई ध्येय ही निश्चित नहीं है!! हमने श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थोंको खोला नहीं है उसका यह दुष्परिणाम है कि जिसे हमारे पूर्वजोंको भुगतना पड़ रहा है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी, जुनागढ,** श्रीयमुनाष्टक प्रवचन राजकोट २००६)

संयुक्तघोषणापत्र : सुप्रिमकोर्ट

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके आधारपर,

यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ... अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है... सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें "बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु".

हस्ताक्षर कर्ता:

गो शरद अनिरुद्धजी (मांडवी-हालोल)
गो किशोरचन्द्र (मांडवी-जुनागढ)
गो अजयकुमार श्यामसुंदरजी (मद्रास)

गो मनमोहन (मुंबई)
गो श्यामसुन्दर मुरलीधरजी (बोरीवली)
गो हरिराय कृष्णजीवनजी (मुंबई)
नि.ली.गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
गो वल्लभलाल श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो हरिराय श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर)
नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीषजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर)
गो व्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)
गो राजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो विजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो योगेश्वर मथुरेश्वरजी (वडोदरा-सुरत)
गो रघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)
गो देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल-अमदावाद)
गो नवनीतलाल श्रीगोविंदलालजी (कामवन-भावनगर)
गो मुरलीमनोहर श्रीव्रजाधीशजी (दहिसर)
नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी श्रीगोकुलनाथजी (मुंबई-नासिक)
गो रमेशकुमार श्रीगोपीनाथजी (मुलुंड-नासिक)
गो कल्याणराय (कन्हैयाबावा (वीरमगाम-अमदावाद)
गो योगेशकुमार (मुंबई)
गो व्रजप्रिय मुरलीधरजी (बोरीवली)
गो नीरजकुमार श्रीमाधवरायजी (मुंबई-नासिक)
गो शरदकुमार (शीलूबावा श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
गो चन्द्रगोपाल (चंदुबावा श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
नि.ली.गो.श्रीनृत्यगोपालजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)

पत्रद्वारा सम्मति:

नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी श्रीगोविंदरायजी (सुरत)
नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)
पञ्चमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लभविद्यानगर)
नि.ली.गो.श्रीगोविंदलालजी (कोटा)

गो.श्रीअनिरुद्धलालजी श्रीद्वारिकेशलालजी (मांडवी-हालोल)
गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)
गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
गो.श्रीविट्ठलनाथजी श्रीव्रजभूषणलालजी (चापासेनी-जूनागढ-जामनगर)
गो.श्रीहरिरायजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
गो.श्रीव्रजरत्नजी श्रीव्रजभूषणलालजी (नडीयाद-जामनगर)
गो.श्रीनवनीतलालजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जूनागढ-जामनगर)
गो.श्रीबालकृष्णजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जेतपुर-जामनगर)

(**''महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशज गोस्वामीओंका संयुक्त-घोषणापत्र''** १९८६ पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्त विवरण पृष्ठ.४९-७८, फोटोकोपी देखें : सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्तप्रकाशन, सन.२००८)

॥ सिद्धान्तवचनावलीके अंश ॥

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिलें तो... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह सेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनो प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता... वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता (गोस्वामी-मुखीया-ट्रस्टी) को वेतन-तनुजासेवामुल्य-के रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव = दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामुल्य-के रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा

की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हो और भक्त हो ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध : अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल : एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित : श्री ठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६वां अपराध : श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल : सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित : जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पानेके लिये भी भजन (सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी?...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-समाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंके लिये ग्राह्य नहीं होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धतम नरकको पानेवाले सहज आसुरी जीव हैं.

(पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश, हस्ताक्षरोकी फोटोकॉपी देखें: सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्त प्रकाशन, २००८)

सम्मतिमें हस्ताक्षर करनेवाले गोस्वामी महानुभाव :

गो.श्रीअनिरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी (मांडवी-हालोल)
गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ़)
गो.श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)
गो.श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (इचलकरंजी)
गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)
पंचमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लविद्यानगर)
गो.श्रीगोपिकालंकारजी श्रीवल्लभलालजी (राजकोट-माणावदर)
चतुर्थपीठाधीश गो.श्री.देवकीनन्दनाचार्यजी (गोकुल)
गो.श्रीद्रुमिलकुमार मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
गो.श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी (कामवन-सुरत)
गो.श्रीनवनीतलालजी गोविन्दरायजी (कामवन-भावनगर)
गो.श्रीमथुरेशजी चन्द्रगोपालजी (विरमगाम-अहमदाबाद)
गो.श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी (वेरावल)
गो.श्रीरघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)
गो.श्रीरघुनाथजी रमेशकुमारजी (मुलुंड-नासिक)
गो.श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (राजकोट-मांडवी)
गो.श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (उपलेटा-पोरबन्दर)
गो.श्रीराजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो.श्रीवल्लभलालजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो.श्रीवल्लभलालजी गिरिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
गो.श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनजी (गोकुल-अहमदावाद)
गो.श्रीविजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो.श्रीविट्ठलनाथजी लालमणीजी (कोटा-मुंबई)

गो.श्रीव्रजरायजी रणछोडलालजी (अहमदावाद)
गो.श्रीव्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अहमदावाद)
गो.श्रीव्रजेशकुमार चन्द्रगोपालजी (कडी-अहमदावाद)
गो.श्रीशरदकुमार (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)

संयुक्तघोषणापत्र : अमदावाद

आज फेरि वो समय आयो है वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतनूकुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत अर्थ करि रहे हैं. लोगनूकूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं. दैवीजीवनूके सङ्ग घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यनूने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करीके मुम्बईमें... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावनूने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेनूने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके सङ्ग विनने करे भावानुवादके मुद्दानूपे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती... समयके अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दानूकी स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुतः एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दानूके विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके सङ्ग सहमत होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है:

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें दोउ(स्वरूपनू)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (=भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होयवेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थनूको ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थनूको ही भगवद उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ (द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों 'दत्तापहार'को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थनूसों ही सर्व निर्णय होइ सकत है अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(''संयुक्तघोषणापत्र:अमदावाद'', मिति फ़ाल्गुन सुदि.७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि.११ मार्च १९९२, देखें : पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्तविवरण १९९३)

हस्ताक्षर:

नि.ली.गो श्रीव्रजरायजी-श्रीनटवरगोपालजी महाराज (अहमदाबाद)
पू.पा.गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी महाराज (अहमदाबाद)
च.पी.पू.पा.गो.श्रीदेवकीनन्दनजी (गोकुल)
पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीराजेशकुमारजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज (अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीजयदेवलालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीमथुरेशजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीकन्हैयालालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)